ISSN : 2320-7604
Listed in UGC Care journal
October, 21, Part 1, Serial.No. 143

बहुरि नहिं आवना

संयुक्तांक-18
जुलाई 2021 - दिसम्बर, 2021
मूल्य : 20 रुपए

आजीवक महासंघ ट्रस्ट द्वारा निर्गत
संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य

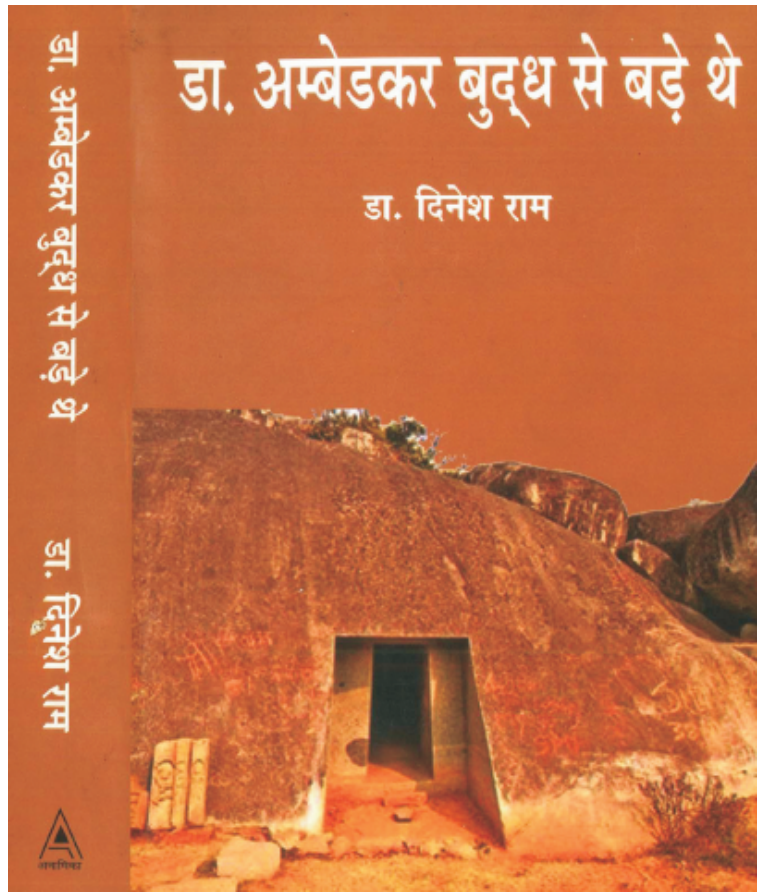

डा. अम्बेडकर बुद्ध से बड़े थे, डा. दिनेश राम, अनामिका पब्लिशर्स और डिस्ट्रीब्यूटर्स प्राइवेट लिमिटेड, 4697/3, 21-ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 2019

बाबा साहेब डा. भीमराव अम्बेडकर दलितों के आजीवक धर्म और दर्शन की परम्परा में थे। आजीवक धर्म और दर्शन पुनर्जन्म के दर्शन को ले कर चलने वाले बौद्ध धर्म और दर्शन की परंपरा के एकदम उलट है। यह सच है कि बाबा साहेब ने बौद्ध धर्म एवं दर्शन को अपनाया। लेकिन उसे अपनाया तो उसे अपने आजीवक धर्म और दर्शन में तब्दील कर अपनाया। तब, उन्होंने बहुजन समाज के आजीवक धर्म और दर्शन के मूल्यों को बुद्ध पर थोप कर उन्हें बड़ा और महान बनाया है, वे खुद बुद्ध और उन के धर्म और दर्शन की वजह से बड़े और महान नहीं हुए हैं। इसलिए, बुद्ध ब्राह्मण धर्म और दर्शन की परम्परा में महान हों तो हों, बहुजन समाज के आजीवक धर्म और दर्शन की परम्परा में उन की महानता पासंग भी नहीं है। बौद्ध धर्म एवं दर्शन—'भारतीय इतिहास का एक वैज्ञानिक और प्रगतिशील तात्विक चिन्तन है'—यह कथित उदारवादी ब्राह्मण विद्वानों द्वारा अकादमिक क्षेत्र में बोला गया इतिहास का सब से बड़ा झूठ है।

वर्ष : 13
संयुक्तांक : 18
अंक : जुलाई, 2021 - दिसम्बर, 2021
संस्थाओं के लिए प्रति कापी : 100 रुपए
वार्षिक सदस्यता शुल्क : 500 रुपए
आजीवन सदस्यता : 2500 रुपए

संपादकीय पता
जे-5, यमुना अपार्टमेंट,
होली चौक, देवली,
नई दिल्ली-110080
मोबाईलः 09868701556
Email: bahurinahiawana14@gmail.com
Website-www.bahurinahiawana.in

Advertisement Rate

Full Page	–	Rs. 20,000/-
Half Page	–	Rs. 10,000/-
Qtr. Page	–	Rs. 5,000/-
Back Cover (four colour)	–	Rs. 40,000/-
Inside Front (four colour)	–	Rs.35,000/-
Inside Back (four colour)	–	Rs.. 35,000/-

Mechanical Data

Overall Size	27.5 cms x 21.5 cms
Full Pages Print Area	24 cms x 18 cms
Half Page	12 cms x 18 cms or 24 cms x 9 cms
Qtr Page	12 cms x 9 cms

प्रधान संपादक
प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'
संपादक
प्रो. दिनेश राम
सहायक संपादक
डा. अनिरुद्ध कुमार सुधांशु
डा. सुनीता देवी
भाषा सहयोग
डा. हेमंत कुमार हिमांशु
डा. राजकुमार राजन
कानूनी सलाहकार
एड. सतपाल विर्दी
एड. संदीप दहिया
संपादकीय सलाहकार एवं विषय विशेषज्ञ
डा. वी. पी. सिंह, प्रो. राजेन्द्र बड़गूजर, बलवीर माधोपुरी, प्रो. फूलबदन, प्रो. नामदेव, प्रो. सुजीत कुमार, डा. चन्देश्वर, डा. दीनानाथ, डा. मोहन चावड़ा, विजय सौदायी, डा. यशवंत वीरोदय, डा. सुरेश कुमार, डा. मनोज दहिया
अप्रवासी समाज, संस्कृति और साहित्य के विशेषज्ञ
ओमप्रकाश वाघा, नरेन्द्र खेड़ा, राम बाबू गौतम, डा. गुलशन नजरोवना जुगुरोवा, डा. बयात रहमातोव, डा. सिराजुद्दीन नूरमातोव

* पत्रिका पूरी तरह अवैतनिक और अव्यावसायिक है।
* पत्रिका से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
* अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है।
* 'बहुरि नहिं आवना' के सारे भुगतान मनीआर्डर/चैक/बैंक ड्राफ्ट 'बहुरि नहिं आवना' के नाम से स्वीकृत किये जायेंगे।
* स्वामी, संपादक, प्रकाशक एवं मुद्रक प्रो. दिनेश राम की ओर से भारत ग्राफिक्स, सी-83, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली-20 द्वारा मुद्रित एवं एफ-345, लाडो सराय, नई दिल्ली- 30 से प्रकाशित।
* 'बहुरि नहिं आवना' में प्रकाशित लेखों में आये विचार लेखकों के अपने हैं जिन से संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

अनुक्रम

संपादकीय— या देही बिन सबद न स्वादं....	—प्रो. दिनेश राम	5
ब्रिटिश इंडियन आर्मी और दलित चेतना....	—सतनाम सिंह	9
अंधेरे में उजाला— उपन्यास अंश....	—बलबीर माधोपुरी	15
अपनी पहचान की खोज में....	—प्रो. कालीचरन 'स्नेही'	20
कविताएं आजीवक जीवन शैली की....	—प्रो. राजेन्द्र बड़गूजर	23
हिन्दू कोड बिल के विरोध में कुछ आर्य महिलाएं....	—डा. सुरेश कुमार	26
हिन्दी साहित्य में पर्यावरण चिंतन....	—डा. आलोक रंजन पांडेय	31
जीने का संकट और प्रतिरोध की कविता....	—डा. उमाशंकर चौधरी	36
गैर दलित पत्रिकाओं का दलित विशेषांक....	—डा. विजयपाल	39
संत रामानन्द —एक सर्वोच्च शहादत....	—डा. मनोज दहिया	43
वृद्ध मनोविज्ञान और उस के विविध पहलू....	—डा. मनीष कुमार चौधरी	48
स्मृतियों के आइने में : गाजीपुर में क्रिस्टोफर काडवेल....	—डा. राजकुमार राजन	51
कविताएं....	— प्रो. रजतरानी मीनू	54

An international peer reviewed journal
Listed in UGC Care journal/ October, 21/ Part 1,
Serial No.143

बहुरि नहिं आवना

संपादकीय

या देही बिन सबद न स्वादं

9 मार्च, 2017 को डा. धर्मवीर का साकेत, दिल्ली के मैक्स अस्पताल में निधन हो गया। वे कोलंजिया कोर्सिनोमा नाम के कैंसर से पीड़ित थे। उन के कैंसर का पता सितंबर, 2008 के पहले सप्ताह में चला था। ईलाज के लिए वे उसी हफ्ते त्रिवेन्द्रम के मेडिकल कालेज में भर्ती हुए थे। कैंसर के ट्यूमर को निकालने के लिए उन की मेजर सर्जरी होनी थी जो अत्यंत ही जोखिम भरी थी। मैं और डा. श्यौराज सिंह 'बेचैन' मेडिकल कालेज में उन के साथ थे। 5 सितंबर, 2008 को उन का आपरेशन सफलता पूर्वक संपन्न हुआ। आपरेशन के बाद उन की हालत सामान्य थी। उन्हीं दिनों के मेरे कुछ आब्जर्वेशन हैं जिन्हें मैंने उसी दौरान दर्ज किया था। इसे मैं पाठकों के साथ शेयर करना चाहता हूं। इस के तथ्यों में बिना कुछ फेर बदल किये इसे मैं हू-ब-हू रख रहा हूं। लेकिन भाषा के व्याकरणिक ढाँचे में थोड़ा बदलाव किया है। चूंकि, यह लेख उन के जीवित रहते लिखा गया था, इसलिए जो क्रियायें वर्तमान काल में थीं उन्हें भूतकाल में कर दिया गया है। अर्थों को थोड़ा और सुगम्य और स्पष्ट बनाने के लिए कहीं-कहीं वाक्यों की संरचना में परिवर्तन किया गया है। सूचना के स्तर पर थोड़ा बहुत जोड़ा-घटाया भी गया है। उन के रहते हम लोग जो भी लिखते थे उन्हें दिखाते जरूर थे। इस लेख को भी उन्होंने देखा था।

मान्यवर कांशी राम के निधन के बाद लोगों को यह कहते हुए सुना गया था—'काश! ये कुछ और दिन जी गये होते तो दलित आंदोलन का स्वरूप कुछ और होता। निश्चित रूप से, ऐसी ही भावनायें बाबा साहेब डा. अम्बेडकर के निधन के बाद भी लोगों की रही होंगी। यह लोगों की कोरी भावुकता नहीं, बल्कि उन का आने वाली परिस्थितियों का एक आकलन होता है। खासतौर से कमजोर कौमों के लोगों का। बड़े अंतराल के बाद ऐसे महान लोग पैदा होते हैं। कबीर के कितने वर्षों बाद डा. धर्मवीर पैदा हुए थे। इस से कमजोर कौम के महत्वपूर्ण नेताओं की सशरीर उपस्थिति की अनिवार्यता का पता चलता है। अपने समाज की स्थिति को देखते हुए ऐसे लोग स्वयं अपने स्वास्थ्य और सुरक्षा का विशेष ध्यान रखते हैं। बावजूद इस के, बाहरी सुरक्षा के मामले में गाँधी, सुकरात और ईसा आदि के उदाहरण हमारे सामने हैं। शरीर नहीं तो फिर कुछ भी नहीं है। डा. धर्मवीर अपने शरीर को ले कर बहुत सचेत रहते थे। वे किसी प्रकार का नशा नहीं करते थे और खाने-पीने का विशेष ध्यान रखते थे। लंबाई के हिसाब से वे अपने वजन को 65 किलो के आस-पास बनाये रखते थे।

डा. धर्मवीर को उम्र के हिसाब से होने वाली कोई बीमारी नहीं थी। इसलिए अस्पताल में डाक्टरों ने उन्हें रिस्क फ्री—एक आइडियल पेसेंट घोषित कर दिया था। यानी, उन का आपरेशन बिना किसी भय के किया जा सकता था। उन में कोई ऐब नहीं था। उन के बारे में डा. कुरुविला ने कहा था—'ही इज ए पायस फेलो।' इसलिए उन के इलाज में डा. कुरुविला ने अपनी पूरी ताकत झोंक दी थी। डा. धर्मवीर नहीं समझ पा रहे थे कि इतनी सावधानी बरतने के बावजूद उन्हें ऐसी बीमारी कैसे हो गयी? कुछेक डाक्टरों का मत था कि ऐसा ज्यादा बैठने की वजह से हो गया होगा। डा. धर्मवीर को खाने-पीने के रेडिमेड पैकेट को ले कर आशंका थी। अकेले रहने की वजह से वे अकसर खाने के लिए बनी-बनायी दाल के पैकेट आदि का प्रयोग करते थे। डा. धर्मवीर जैसे व्यक्ति को कैंसर कैसे हो गया—यह जानना जितना हम लोगों के लिए मुश्किल था उतना ही डाक्टरों के लिये भी। व्यसन के जिन कारणों से कैंसर होना बताया

जाता था उन से वे कोसों दूर थे। डा. धर्मवीर को डर था कि उन के न रहने पर उन के काम अधूरे रह जायेंगे। पता नहीं कब उन के समाज में कोई ऐसा व्यक्ति पैदा होगा जो यह काम करेगा।

डा. धर्मवीर जिस आजीवक धर्म और दर्शन की वकालत कर रहे थे उस में पुनर्जन्म का दर्शन नहीं है। उन के यहाँ मृत्यु के बाद कुछ भी नहीं, न आत्मा न शरीर। वे बीमारी की हालत में बेड पर थे। ऐसे में उन का अनुभव उन के दर्शन से पूरी तरह रू-ब-रू था। वे देख रहे थे कि जब तक वे जीवित हैं तभी तक मित्र-यार हैं, परिवार है, प्रशासन है, सुख-दुख है और लिखना-पढ़ना है। इस के बाद कुछ भी नहीं है। वे अपने प्रिय दार्शनिक कबीर की बात को याद करते हुए कहते थे—'पांडे, न करसी बाद बिवादं। या देही बिन सबद न स्वादं।' यहाँ, आत्मा को अमर और शरीर को महत्वहीन समझने वाले बौद्ध, जैन और ब्राह्मण दर्शन की पूरी परंपरा खत्म है। डा. धर्मवीर के दर्शन की पूरी कवायद मनुष्य और उस की संतति को बचाने की है। उन के अनुसार—'ऐसा व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र को बचा कर ही होगा और मनुष्य उन्हें एक अच्छा गृहस्थ बन कर ही बचा पायेगा।' ठीक भी है, आजीवक दर्शन वैसे-वैसे चलेगा जैसे-जैसे एक गृहस्थ कहेगा और अध्यात्म अपनी आध्यात्मिक ऊंचाई गृहस्थ जीवन के आदर्शों पर चल कर ही पायेगा।

डा. धर्मवीर की बीमारी के समय चिकित्सा विज्ञान की कुछ सीमायें भी समझ में आयीं। यह हम तीनों के लिए नियति से रू-ब-रू होने का समय था। उस के दर्शन को समझने का समय था। कैंसर की बीमारी को पता करने के अधिकांश टेस्ट अस्पताल में मौजूद थे। जो कुछ नहीं थे, अगर वे सब उपलब्ध होते तो भी, डाक्टरों के लिए अंतिम रूप से कुछ कह पाना कठिन था। शरीर में कैंसर के फैलाव को ले कर भ्रम था कि यह कहाँ तक है। ऐसी स्थिति में, डा. कुरुविला ने यह मान लिया था कि चाहे कम हो या ज्यादा आपरेशन तो करना है। रिस्क नहीं लिया जा सकता था क्यों कि कैंसर बहुत तेजी से फैल रहा था। हम लोग यह जान कर परेशान थे कि आपरेशन के बाद भी डाक्टर लोग निश्चित रूप से यह नहीं कह पा रहे थे कि बीमारी पूरी तरह से ठीक हो जायेगी। कैंसर ऐसी जगह था कि उस का आपरेशन करना बहुत कठिन था। ऐसे में, आपरेशन के दौरान उन की जान जाने का कुछ ज्यादा खतरा था। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के इतना विकसित हो जाने के बावजूद, डाक्टर लोग विश्वास के साथ कुछ नहीं कह पा रहे थे। हम लोग अधीर हो कर डा. कुरुविला से कहते कि डा. साहेब सब कुछ आप के हाथ में है। तब, हम लोगों की मनःस्थितियों को भाँपते हुए डा. कुरुविला ने कहा—'आपरेशन के माध्यम से हम लोग शरीर को सामान्य स्थिति में लाने के लिए प्रकृति की थोड़ी मदद भर करते हैं और कुछ नहीं। बाकी सब तो ईश्वर के हाथ में है।' वी हेल्प द नेचर टु क्योर इट्स पेसेंट, दैट्स आल. रेस्ट इज इन द हैंडस आफ गाड।

आपरेशन के एक दिन पहले की बात है। हम लोग शाम को कमरे में बैठ कर ऐसे ही हंसी-मजाक कर रहे थे कि डा. कुरुविला आ गये। वे बहुत मजाकिया स्वभाव के थे। डा. धर्मवीर को देखने के बाद उन्होंने कहा—'आप को हल्का वाक करना चाहिए। 'ह्वाई डिडन्ट यु गो आन फिफ्थ फ्लोर? जस्ट गो एण्ड सी द जुरैसिक पार्क।' वे छत से त्रिवेंद्रम शहर के मंजर को देखने की बात कह रहे थे। उन का यह कहना हम लोंगों को और ही प्रफुल्लित कर गया। माहौल खुशी से भर गया। डा. धर्मवीर की एक बड़ी और जटिल सर्जरी होनी थी, पर इसे ले कर वे कहीं से खौफजदा नहीं दिख रहे थे। वे पहले ही की तरह हंसी-मजाक में शामिल थे। उन के चेहरे पर किसी तरह का भय और दुख नहीं दिखता था। अगर वे कभी-कभार दुःखी दिख जाते थे तो अपने कामों को ले कर जो अभी अधूरे थे जिन्हें वे अपने समाज को देना चाहते थे। उन्हें डर था कि कहीं उन का यह काम अधूरा न रह जाए। पर वे कहते थे—'इस को ले कर ज्यादा चिंता भी क्या करना। परिस्थितियों पर किसी का वश नहीं। जरूरत पड़ने पर आने वाली पीढ़ियाँ यह काम पूरा कर लेंगी। मैं मान लूंगा कि यह काम ईश्वर मेरे द्वारा पूरा नहीं कराना चाहते थे।' यह नियति के हाथ है। उस पर किसी का वश नहीं। सदियाँ गुजर जाती हैं ऐसे काम नहीं होते। मैं समझता हूं, डा. धर्मवीर का यह काम आजीवक धर्म के संस्थापक मक्खलि गोसाल के विलुप्त हो गये धर्मग्रंथ 'दिशाचार' का नये सिरे से पुर्नसृजन था।

हम लोग उन के साथ हंसी-मजाक कर रहे थे। हम लोग उन के सामने दुःख जैसा माहौल नहीं बनने देना चाहते थे। हम लोग मजाक में कहते थे—'डा. धर्मवीर को जिस बीमारी ने पकड़ा है उसे पता नहीं कि उस का किस से पाला पड़ा है, कुछ ही दिनों में उसे समझ में आ जायेगा। बहुत पछतायेगी वह।' सच तो यह है कि डा. धर्मवीर के साथ रहते हुए दुःख जैसा माहौल बनता ही नहीं था। चाहे स्थितियाँ जो भी हों। हम लोग अपने चिंतन में बिल्कुल स्पष्ट थे। हम लोगों के पास एक दृष्टि थी इसलिए आत्मविश्वास से भरे हुए थे। हम लोगों की सोच सकारात्मक थी और जिस उद्देश्य के लिए हम लोग लड़ रहे थे उस के परिणामों से वाकिफ थे। हम लोग परिस्थितियों के हिसाब से रणनीतियाँ बनाने, छोड़ने और बदलने में सक्षम थे। डा. धर्मवीर को हम लोगों ने कभी कमजोर या हारते हुए नहीं देखा थ। हम लोगों को पूरा विश्वास था कि वे यहाँ अपनी बीमारी से भी नहीं हारेंगें। हम लोगों के सामने आया हुआ यह एक दौर है, गुजर जायेगा। वैसे हम तीनों के लिए यह बड़ा ही कठिन दौर था। दुर्भाग्य से, इस कठिन दौर के दुःख

का ज्यादा भाग डा. धर्मवीर के हिस्से आ गया था। या, यूं कहें कि हम लोगों से उम्र में बड़े होने के नाते उन्होंने स्वयं इसे ज्यादा से लिया था। डा. धर्मवीर के कहने पर मैंने पवित्र बाइबल और कुरान पढ़ी थी। उस से मैंने जाना कि जो बड़े काम करने का बीड़ा उठाते हैं, उन के जीवन में ऐसे कठिन दौर आया ही करते हैं। ऐसे दौर ईश्वर द्वारा ली जा रही उन की परीक्षा के होते हैं और मानवता की सेवा में लगे हुए ऐसे लोग इसे हर हाल में पास ही किया करते हैं। निःसंदेह, ये पवित्र धर्मग्रंथ हमें यही विश्वास दिलाते हैं।

ढेर सारे टेस्ट होने के बावजूद, डाक्टर लोग कैंसर के फैलाव को ले कर भ्रम में थे। वे एक सामान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पा रहे थे। कुछ ऐसे टेस्ट जरूर थे जिस से कैंसर के फैलाव के बारे में जानने में मदद मिल सकती थी, लेकिन वे केरल में उपलब्ध नहीं थे। वे दो ही जगह उपलब्ध थे—एक दिल्ली के एम्स में और दो लखनऊ के संजय गाँधी अस्पताल में। लेकिन समय हमारे पास कम था। अंत में, उपलब्ध जानकारियों के आधार डा. कुरुविला ने आपरेशन करने का निर्णय लिया। हम लोगों ने कहा कि डाक्टर लोग अपने क्षेत्र की इस बीमारी को ले कर इतने भ्रम में हैं, पर हम लोग अपने क्षेत्र में इन लोगों से आगे हैं। दलित साहित्य आन्दोलन के क्षेत्र में विकसित हो रही बीमारी को हम लोगों ने बिना किसी भ्रम के शुरू में ही पकड़ लिया और इस का इलाज भी कर दिया। डा. धर्मवीर की मानें तो दलित साहित्य में यह बीमारी 'जजमानी साहित्य' और 'जजमानी आलोचना' के रूप में विकसित हो रही थी। यह प्रवृत्ति दलित आंदोलन के लिए बड़ा कैंसर बनने जा रही थी। इस में कुछ गैर-दलित साहित्यकार उन की मदद खुल कर कर रहे थे।

5 सितंबर, 2008 का दिन था। डा. धर्मवीर आपरेशन थिएटर में थे। उन का मेजर आपरेशन चल रहा था। मैं, डा. श्यौराज सिंह 'बेचैन' और डा. धर्मवीर की दो बेटियाँ बिन्टू और अनिता आपरेशन थिएटर के बाहर चितिंत मुद्रा में खड़े थे। डा. कुरुविला, जो इस आपरेशन के हेड थे, हम लोगों को आश्वस्त कर गए थे—''घबराने की कोई बात नहीं। ऐसे आपरेशन मैं अक्सर किया करता हूं।' उन के आत्मविश्वास को देख कर हम लोगों की चिंतायें थोड़ी कम हो गयी थीं। लेकिन फिर भी आपरेशन तो आपरेशन था, चिंतायें पूरी तरह पीछा नहीं छोड़ रही थीं। कुछ देर का आपरेशन खत्म करने के बाद डा. कुरुविला बाहर आये। उन्होंने हम लोगों से बताया—'तीस प्रतिशत आपरेशन खत्म हो चुका है, घबराने की कोई बात नहीं। सब कुछ नार्मल है, पर हम लोगों ने जितना सोचा था उस से कहीं ज्यादा जटिल मामला था।' आगे उन्होंने बताया—'आपरेशन चार बजे शाम तक चलेगा। अब वे इसे पूरा कर के ही वापस आयेंगे।' पौने नौ बजे आपरेशन शुरू हुआ था और शाम चार बजे खत्म हुआ। लगभग आठ घंटे तक का समय हम लोगों के लिए बड़ा कठिन था।

हम लोग बाहर चितिंत मुद्रा में खड़े थे तभी एक फोन आया। मैंने देखा यह बाहर का अनसेव नंबर था। मैंने 'हेलो' किया तो उधर से आवाज आयी—'सर, मैं कुमार सौरभ बोल रहा हूं। सर, आज शिक्षक दिवस है, आप को ढेर सारी शुभकामनायें।' मैंने उस का धन्यवाद किया और बताया कि मैं दिल्ली से बाहर हूं। इस के बाद बिना कुछ और कहे उस ने फोन काट दिया। देखा तो शुभकामना का एक मेसेज भी आया है जिसे एस. एन. त्यागी ने भेजा है। ये दोनों मेरे छात्र थे। इन दोनों की शुभकामनायें दिल को छू गयीं। साथ ही, एक शिक्षक के उत्तरदायित्वों का एहसास भी करा गयीं। यह बात मैंने डा. 'बेचैन' को बतायी तो उन्होंने कहा—'हमारा शिक्षक तो आपरेशन थिएटर में है।' मैंने कहा—'यस, हमारा शिक्षक तो आपरेशन थिएटर में है। मौत से दो चार हो रहा है।' उस दिन हम लोग असमर्थ थे। हम लोगों के हाथ में कुछ नहीं था। अपने शिक्षक को बचाने के लिए कुछ नहीं कर सकते थे, सिवाए ईश्वर से दुआयें मांगने के। नियति के आगे मनुष्य कितना विवश है, उस दिन शिद्दत से एहसास हुआ।

डा. धर्मवीर का आपरेशन सफलता पूर्वक संपन्न हो चुका था। हम लोग तनाव और भय से बाहर थे। डा. कुरुविला ने बताया—'आपरेशन तो महत्वपूर्ण था ही पर उस से ज्यादा महत्वपूर्ण पोस्ट आपरेटिव केयर है।' आपरेशन के बाद डा. धर्मवीर आई. सी. यू. में थे। वहाँ जाने की मनाही थी। घंटे-घंटे पर उन का ब्लड टेस्ट होता था। दवाईयों और इंजेक्शन की बराबर जरूरत पड़ती थी। इस में उन का ड्राइवर मोहन बड़ी मुस्तैदी से लगा हुआ था। भाषा अलग और जगह अनजान होने के नाते हम लोग ड्राइवर की बहुत ज्यादा मदद नहीं कर पा रहे थे। आई. सी. यू. से निकलने के बाद उन के लिए दो चीजों की मनाही थी। एक, उन्हें कम बोलना था और दो, मुलाकातियों से दूर रहना था। ऐसा न होने पर उन्हें संक्रमण हो जाने का भय था। पर ये दोनों बातें हम लोगों की पकड़ में थीं। हम लोगों का सामान डा. धर्मवीर के फ्लैट पर था जो हास्पिटल से काफी दूर है। हम लोगों ने पिछले दो-तीन दिनों से नहाया-धोया नहीं थे और न ही कपड़े बदले थे। वहाँ बाजार के खाने से भी हम लोग थोड़ा ऊब गये थे। आपरेशन सफल होने पर हम लोग राहत महसूस कर रहे थे। इसलिए हम लोगों ने सोचा कि कमरे पर चल कर नहाएं-धोएं, कपड़े बदलें और हो सके तो सब्जी रोटी बना कर खाएं।

सुबह के ग्यारह बजे के आस-पास हम लोग उन के फ्लैट पर पहुंचे। उन के सामने वाले फ्लैट में कुछ बच्चे खेल रहे थे जिस में एक तीन साल की प्यारी बच्ची भी थी। हम लोगों को ताला खोलते हुए देखा तो उस ने उत्सुकता से कुछ पूछा। भाषा मलयाली थी, इसलिए हम लोग कुछ समझ नहीं पाए। पर, उस ने एक शब्द अंकल का बोला था। हम लोग समझ गये कि वह डा. धर्मवीर के बारे में पूछ रही है। हम लोगों ने उस से हिंदी में कहा—'हाँ, बेटा अंकल ठीक हैं, वे जल्दी ही आ जायेंगे।' उस का डा. धर्मवीर के बारे में पूछना हम लोगों को छू गया। कहते हैं, बच्चे भगवान का रूप होते हैं, तब तो यह बच्चा भगवान के रूप में डा. धर्मवीर को यहाँ खोज रहा है। लगा, अब डा. धर्मवीर पूरी तरह खतरे से बाहर हैं। डा. धर्मवीर का उस बच्ची से कितना लगाव रहा होगा, जाना जा सकता है। बड़ों के तार छोटे बच्चों से और छोटे बच्चों के तार बड़ों से कितनी गहरायी से जुड़े होते हैं! ऐसा न होता तो शायद सृष्टि फलते-फूलते न दीखती। जीव-जन्तुओं की ऐसी कई प्रजातियाँ है जो अपने बच्चों को खा जाती हैं। डा. धर्मवीर ने बात-चीत में एक बार कहा था—'जिन उपन्यासों में बच्चे और बुजुर्ग न आएं, वे उपन्यास बड़े महत्व के नहीं माने जाने चाहिए।' एक बात मेरे जेहन में बार-बार घूम रही थी कि आखिर उस बच्ची ने हम लोगों से क्या पूछा होगा? मुझे दो बातें समझ में आ रही थीं—'एक, उस ने पूछा होगा—'अंकल कब आयेंगे ओर दो, 'अंकल कहाँ हैं'। इस बात को जानने के लिए कि मलयालम में इस के अनुवाद क्या होंगे मैंने जय कुमार जी से पूछा। वे मलयालम और हिंदी दोनों जानते हैं। उन्होंने मुझे इस का अनुवाद क्रमशः यह बताया—'अंकल एप्पोल वरून्मो' और 'अंकल, एविडे आणु।' मैंने तुरंत पकड़ लिया कि उस ने 'अंकल, एविडे आणु' ही कहा था—अर्थात, 'अंकल कहाँ हैं?'

आपरेशन सफलता पूर्वक संपन्न होने के बाद डा. धर्मवीर को आई. सी. यू. में ले जाया जा रहा था। उसी दौरान हम लोग भी उन के स्ट्रेचर के साथ लिफ्ट में जा रहे थे। उस समय डा. धर्मवीर पर एनेस्थेसिया का असर पूरी तरह समाप्त हो गया था। उन की चेतना वापस आ गयी थी। डा. श्यौराज सिंह 'बेचैन' उन के सिरहाने खड़े थे। किसी ने डा. धर्मवीर से पूछा—'आप इन्हें पहचान रहे हैं।' तो उन्होंने कहा—'हाँ, ये डा. श्यौराज सिंह 'बेचैन' हैं। उस समय उन की आवाज थोड़ी बदली और भर्रायी सी लग रही थी। उन का बोलना हम लोगों के लिए बड़ी राहत और खुशी ले कर आया था। इस के बाद उन्होंने वहाँ उपस्थित हम सभी लोगों का सहयोग के लिए आभार व्यक्त किया। ऐसा करते हुए वे काफी विनम्र और कृतज्ञ दिख रहे थे। पर, सच तो यह है कि वे नहीं हम उन के आभारी थे। उन्होंने उस दिन हमें और अपने समाज को अनाथ नहीं किया था।

डा. धर्मवीर ने एक प्राचीन धर्म और दर्शन को ढूंढ़ा था। एक संस्कृति और परंपरा को अर्थ और पहचान दी थी। ऐसा धर्म और दर्शन जो बौद्ध, जैन और ब्राह्मण से स्वतंत्र और भिन्न है। यह कोई और नहीं बल्कि आजीवक धर्म और दर्शन है जो इसी मिट्टी से जन्मा हुआ है। यह देश की वह प्राचीन संस्कृति और परंपरा है जिस से दलित और बहुजन समाज के लोग जुड़े हुए हैं। यह उन्हीं की बनायी और विकसित की गयी धार्मिक और दार्शनिक परंपरा है। डा. धर्मवीर ने इस संस्कृति के पर्सनल कानून को 'दलित सिविल कानून' नाम से संहिताबद्ध किया है। दलित समाज के लोग इसे छोटा काम समझने की भूल नहीं करेंगे। यह बड़ा और महान काम है। यही काम अपने-अपने कौमों के लिए ईसा और मोहम्मद साहेब ने किया था। यही काम अपनी कौम के लिए नेपोलियन ने किया था जिस के बारे में स्वयं उस ने कहा—'मेरी जो वस्तु कभी विस्मृत नहीं की जा सकेगी वह मेरी चालीस युद्धों में विजय नहीं, बल्कि कानूनी संहिता है।' सिविल कानून के अलावा अन्य कई संहिताएं भी नेपोलियन ने तैयार की थीं। हिंदू कोड बिल के माध्यम से यही काम बाबा साहेब डा. अंबेडकर ने किया जिस के बारे में उन्होंने कहा—'हिंदू समाज सुधार की ऐसी बिल न तो अतीत में पारित की गयी है, न ही भविष्य में पारित की जायेगी,।' डा. धर्मवीर ने 'दलित सिविल कानून' तैयार कर दिया है, धर्मग्रंथ तैयार करने की प्रक्रिया में थे। इन दोनों के आ जाने से भविष्य में दलित और बहुजन संस्कृति की पहचान को मिटा पाना असंभव होगा। विश्व सभ्यता में दलितों के योगदान की यह अमर गाथा है। ऐसे में डा. धर्मवीर नहीं हम उन के आभारी हैं।

ब्रिटिश इंडियन आर्मी और दलित चेतना

—सतनाम सिंह

आज का दलित आन्दोलन सौ साल से भी ऊपर का सफर तय कर चुका है। आज जब हम इस दलित आन्दोलन की जड़ें खोजते हुए इतिहास में उतरते हैं, तब पाते हैं कि यह आन्दोलन ब्रिटिश इंडियन आर्मी से उपजे थे। यह दलित आन्दोलन के इतिहास का एक महत्वपूर्ण पहलू है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है। दलित आन्दोलन, ब्रिटिश इंडियन आर्मी में अछूतों की बहाली के नाम पर, सन 1890 के आसपास से ही प्रारूप लेने लगा था। इस के अधिकांश अग्रदूत आर्मी छावनियों में ही पले-बढ़े थे। यही वजह है कि शुरू से ले कर आज तक हम दलित आन्दोलन में आर्मी के प्रतीकों का उपयोग देखते हैं। शुरू के दलित आन्दोलन से यही मांग निकल कर आती है कि दलितों को अधिक से अधिक संख्या में बिटिश सेना में लिया जाए। जब हम दलित आन्दोलन के इतिहास के बही-खाते पलटते हैं तो यही पाते हैं कि दलित आन्दोलन के अग्रदूत अपनी जनता से यही अपील करते मिलते हैं कि वे अधिक से अधिक संख्या में सेना में भर्ती हों। इसी वजह से, पिछली सदी के शुरू में हम देखते हैं कि दलितों की पापुलर कल्चर में भी आर्मी के प्रतीकों का भरपूर उपयोग किया गया है। आर्मी की वजह से ही दलितों को बाहर की दुनिया को जानने-समझने का मौका मिला था। आर्मी की नौकरियों से ही सब से पहले दलितों के जीवन स्तर में सुधार हुआ और उन के घरों में सम्पन्नता आयी। यही वजह है कि आज भी देश की तमाम सैनिक छावनियों के आसपास दलित आबादी का घनत्व अधिक मिलता है। इन सैनिक छावनियों की स्थापना अंग्रेजों द्वारा की गयी थी। उस दौर में दलितों को पशुओं के ही समतुल्य माना जाता था। आज भी दलितों के लिए ढेढ़, डांगर, ढ़ोर और दागी जैसे सम्बोधन मिलते हैं।[1] इन शब्दों के अर्थ स्थानीय भाषाओं में पशु ही हैं। कहावतों में ढेढ़ और भेड़ एक साथ ही गिनाये गये हैं। पंजाब की स्थानीय भाषा में 'चौउणा' और 'इज्जड़' जैसे शब्द पशुओं के लिए ही उपयोग में लाये जाते हैं। लेकिन कुछ लोगों द्वारा गाहे-बेगाहे दलितों के लिए भी इस्तेमाल कर लिये जाते हैं। दलित आत्मकथाएं इस बात की गवाह हैं।[2]

ब्रिटिश कालीन दलित आबादी सामाजिक और मानवीय अधिकारों से वंचित थी। इन की बस्तियाँ गाँवों से बाहर दक्षिण दिशा की तरफ सब से निचले हिस्सों पर बसायी गयी थीं। इन की परछायीं से भी छूत लग जाती थी। कदम-कदम पर इन का अपमान और शोषण होता था। गार-मार और बेगार इन की जिन्दगी का हिस्सा बने हुए थे।[3] ऐसी हालातों में वे गाँवों में तंग और गन्दे झोंपड़ों में अधनंगी और अधभूखी अवस्था में अपना जीवन यापन करते थे। इस अंधकार के बीच से ब्रिटिश इंडियन आर्मी की रेजिमेंटें और सैनिक छावनियाँ दलितों के लिए आशा की एक किरण बन कर आयीं थीं। भारी संख्या में दलितों को सेना में लिया गया।[4] विशेष कर, साईस, लेवरकोर, एनिमल ट्रांसपोर्ट, सफाई और

मोची आदि के लिए बड़ी संख्या में दलित आर्मी में लिये जाने लगे।[5] सैनिक छावनियों ने बड़ी संख्या में दलितों को चमड़े, कपड़े और सफाई के कामों के लिए आकर्षित किया। ये लोग गाँवों को छोड़ कर सैनिक छावनियों के आसपास जा कर बसने लगे। 19वीं शताब्दी के अन्त में अछूत जातियों ने गाँवों से निकल कर इलाहाबाद, बनारस, कानपुर और लखनऊ में जा कर बसना शुरू किया था। 1857 के विद्रोह के बाद ब्रिटिश मिलिट्री और प्रशासन ने बड़े पैमाने पर आर्मी छावनियों की स्थापना की थी। वहाँ बड़े पैमाने पर सफाई कामगारों, और कन्सर्वैंसी वर्करों की भारी मांग थी। वहीं प्रशासनिक अधिकारी और आर्मी ऑफिसर जो कि शहरों में बस गये थे, उन्हें घरेलू नौकरों की जरूरत थी। अछूतों में भंगी, चमार और डोम आदि जातियों के लोग इन कामों के लिए बड़ी तादाद में शहरों में जा कर बसे थे।[6]

इलाहाबाद में 19वीं शताब्दी में चमारों द्वारा एक शिवनारायण सम्प्रदाय की स्थापना की गयी थी। ये वो लोग थे जो गाँवों से निकल कर शहर की तरफ काम की तलाश में गये थे। ये ब्रिटिश सैनिक छावनियों में घरेलू नौकर, माली और हार्स कीपर के रूप में सेवायें दे रहे थे। इस सम्प्रदाय की विशेष बात यह थी कि इस का मुखिया सिर्फ 'महन्त' नहीं बल्कि 'ब्रिगेड महन्त' कहलाता था।[7] इस की वजह यह थी कि इस सम्प्रदाय की जड़ें सैनिक छावनी से जुड़ी हुई थीं। मैंने अपने अध्ययन के लिए जम्मू, पठानकोट, जालन्धर, अमृतसर, इलाहाबाद, बरेली, कानपुर, लखनऊ, वाराणसी, अहमदाबाद, झांसी, देहरादून, जबलपुर, अजमेर और पुणे आदि सैनिक छावनियों की आबादी को लिया जिस में अछूत जातियों का घनत्व अधिक है। डा. अंबेडकर ने दलितों को शहरों में जा कर बसने की नसीहत दी थी। गाँवों में दलितों की हालत बहुत बुरी थी। उन की सोच थी कि गाँवों से निकल कर दलित शहरों में जायेंगे तो बेगार और अपमान से बचेंगे। बाहर जा कर कमाने में उन्हें पैसे अधिक मिलेंगे। इस के अलावा वे शिक्षित भी होंगे और जागरूक भी।

यदि हम ब्रिटिश काल की परिस्थितियों को देखें तो उस समय ब्रिटिश आर्मी की रेजिमेंटें और सैनिक छावनियाँ इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सब से उपयुक्त और आसानी से सुलभ स्थल थे। यही वजह है कि गाँवों से निकल कर दलितों की एक बड़ी आबादी सैनिक छावनियों की तरफ ही गयी।[8] वहाँ उन के जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन आया। उदाहरण के रूप में, यहाँ पंजाब हिल स्टेटस में जिस समय धड़ल्ले से बेगार प्रथा लागू थी उस समय ब्रिटिश छावनी क्षेत्रों में लोगों को काम के बदले में नगद भुगतान होता था जिस में कुली और हस्तरिक्शा चालक जैसे काम शामिल थे।[9]

आधुनिक भारत में पहले-पहल दलित आन्दोलन चलाने वाले सभी अग्रदूत सैनिक छावनियों से ही पले-बढ़े थे। ये वहीं से पढ़-लिख कर निकले थे। इस तथ्य के पहले उदाहरण के रूप में स्वामी अछूतानन्द हरिहर को लिया जा सकता है। उन्होंने 'आदि हिन्दू' नाम से उत्तर भारत में अपना पहला दलित आन्दोलन शुरू किया था। उन के चाचा उन्हें देवली छावनी में अपने साथ ले गये थे। बाद में वे अपने चाचा के साथ नसीराबाद और अजमेर छावनियों में रह कर पढ़े।[10] नंदिनी गुप्तु के अनुसार, इसाई मिशनरियाँ अछूतों को सैनिक छावनियों के आसपास मुफ्त में शिक्षा देती थीं। स्वामी अछूतानन्द हरिहर ने कानपुर की सैनिक छावनी में ही इसाई मिश्रियों से शिक्षा पायी थी। वहाँ उन के पिता मजदूरी करते थे।[11] इसी तरह, डा. अंबेडकर का उदाहरण लिया जा सकता है। वे भी अपने पिता सूबेदार रामजीराव के साथ महू छावनी में पले-बढ़े थे और वहीं से आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की थी। इस के अतिरिक्त बाबू जगजीवन राम के पिता शोभी राम भी आर्मी में सैनिक ही थे। वे सुल्तानपुर में काफी समय तक नियुक्ति पर रहे थे। सेना में रह कर उन्होने अंग्रेजी का ज्ञान पाया था। उन के बेटे जगजीवन राम पर सैनिक छावनी के ही संस्कार पड़े थे जो आगे चल कर दलित आन्दोलन के एक स्तम्भ बने। इस के अतिरिक्त, दलित आन्दोलन के इतिहास को उस की जड़ों—कबीर, रैदास और मक्खली गोसाल के आजीवक धर्म से जोड़ने वाले डा. धर्मवीर स्वयं मेरठ छावनी में ही पले-बढ़े थे। उन के पिता हंसा राम मेरठ छावनी के 510 आर्मी बेस वर्कशाप में मजदूर थे। वे छावनी में अपना दर्जी का काम छोड़ कर गये थे। बाद में वहीं उन्हें दर्जी का काम मिल गया था। वे वहाँ पर सैनिक गाड़ियों पर कपड़ा चढ़ाया करते थे।[12] डा. धर्मवीर का आर्मी छावनी में रह कर पढ़ने का असर देखिये कि वे फिलॉस्फी में पी. एच. डी. और बाद में आई. ए. एस. बने। साथ ही उन्होंने दलित चिन्तन की दशा और दिशा पर ऐतिहासिक शोध कार्य प्रस्तुत किया और एक दार्शनिक चिन्तक के रूप में सामने आये।

दलित आन्दोलन में आर्मी के प्रतीकों का प्रयोग दलित आन्दोलन पर आर्मी के प्रभाव का ही असर है। इस में हम शुरू से ले कर आज तक आर्मी से जुड़े हुए प्रतीकों को देखते आ रहे हैं। बाबू मंगू राम ने सब से पहले संयुक्त पंजाब में पहला दलित आन्दोलन 'आदि धर्म' के नाम से शुरू किया था। उन्होंने अपना पहला अखबार 'आदि डंका' के नाम से शुरू किया था।[13] यह डंका शब्द युद्ध से जुड़ा हुआ ही एक शब्द है। डंक शब्द का अर्थ है—'युद्ध के समय बजाया जाने वाला नगाड़ा'। स्वामी अछूतानन्द हरिहर के 'आदि हिन्दू' आन्दोलन का अखबार 'आदि हिन्दू' के नाम से छपता था। इस अखबार का जो प्रतीक

चिन्ह (द्वारा) छपता था वह एक सैनिक का था। उस चित्र में एक सैनिक को तीर कमान उठाये हुए दिखाया गया था जिस के नीचे एक प्रतीक वाक्य लिखा रहता था—'समाज रक्षक, शूर शिक्षक'[14] यह रक्षक और शूर जैसी शब्दावली भी युद्ध से ही सम्बन्धित है। ये दोनों ही अखबार युद्ध की खबरें खूब बढ़ा-चढ़ा कर छापा करते थे। आदि डंका अखबार के अप्रैल, 1942 के अंक में मुख पृष्ठ पर कवि चरन सिंह सफरी की एक नज्म थी जिस का शीर्षक था, 'अपना ही देश प्यारा है।' नज्म के नीचे सम्पादकीय नोट में लिखा गया है—''यह नज्म कवि ने युद्ध में जाते हुए सिपाही को देख कर लिखी है। ''[15]

डा. अंबेडकर ने अपने एक संगठन का नाम 'समता सैनिक दल' रखा था। इस नाम में सैनिक और दल शब्द अकारण नहीं आया था। इस संगठन के कार्यकर्ताओं की बाकायदा आर्मी की तरह की ड्रेस थी। इस के सदस्य और पदाधिकारी आर्मी की ही तरह 'सैनिक' और 'कमांडर' जैसे सम्बोधनों से पुकारे जाते थे। मसलन, इस संगठन का जिला अध्यक्ष 'डिस्ट्रीक्ट कमांडर' पुकारा जाता था। यह संगठन आज भी वजूद में है। डा. अंबेडकर के बाद भी दलित आन्दोलन में आर्मी के प्रतीक देखने को मिलते हैं। मान्यवर कांशी राम ने 'बहुजन वालंटियर फोर्स' बनायी थी। इस के कार्यकर्ताओं की पोशाक भी आर्मी की तरह बनायी गयी थी। साहेब कांशी राम ने अपने एक साक्षात्कार में कहा भी था कि मेरे दोनों चाचा आर्मी में थे। मुझे आर्मी वालों के परिवार में पैदा होने पर गर्व है। यदि मैं निडर हो कर अपना आन्दोलन चला पा रहा हूं तो इस की एक वजह भी यही है कि मेरी पृष्ठ भूमि आर्मी की है। फूलन देवी ने 'एकलव्य सेना' बनायी थी। रामविलास पासवान ने 'दलित सेना' बनायी थी। आज चन्द्रशेखर आजाद भी 'भीम आर्मी' नाम से अपना संगठन चला रहे हैं। इस के अतिरिक्त, आज देश में ऐसे बहुत से दलित संगठन हैं जो आर्मी के प्रतीकों का उपयोग करते हैं। अंबेडकर सेना, भीम सेना और रविदास सेना आदि इसी तरह के संगठन हैं। ये सैनिक, सेना और फोर्स आदि जैसे आर्मी से जुड़े हुए शब्द दलित आन्दोलन में शुरू से ले कर आज तक इसलिए हैं कि दलित चेतना और आन्दोलन की जड़ों में आर्मी है।

दलितों की पापुलर कल्चर में आर्मी के प्रतीकों का उपयोग उन के बिटिश आर्मी से जुड़ाव के कारण ही है। स्वामी अछूतानन्द हरिहर ने अपने 'आदिखण्ड काव्य' में लिखा है :

घर-घर नारी नाग लिख पूजें
सेना गढ़ गज रथ गायें[16]

अर्थात, हमारी औरतें घरों में नाग पंचमी का त्यौहार मनाती हैं। घरों की दीवारों पर नागों के चिन्ह बना कर उन्हें पूजती हैं और सेना, गढ़, हाथी और रथों के गीत गाती हैं। स्टीफन पी. कोहेन ने लिखा है—'आर्मी में लगातार सेवायें देने की वजह से ही दलितों की पापुलर कल्चर में आर्मी ट्रेडिशंस का प्रवेश हुआ है। उन्होंने अपने सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में 'मार्शल ट्रेडिशंस' प्रयोग करने शुरू कर दिये थे।[17] ब्रिटिश काल में पंजाब की चमार औरतों में आर्मी मैन से शादी करने का बहुत ज्यादा क्रेज था। इस की गवाही उन का एक निम्नलिखित लोकगीत देता है :

'बसणा तां फौजी दे
भामैं बूट सणैं लत मारे'

अर्थात, शादी करूंगी तो आर्मी मैन से करूंगी, भले ही वह मुझे आर्मी के बूट पहन कर लात ही क्यों न मारे। मैंने अपने शोधकार्य के सिलसिले में हिमाचल और पंजाब की चमार जाति की औरतों द्वारा गाये जाने वाले लोकगीतों का सर्वे किया है। इन राज्यों में तो 'सुहाग' और 'घुड़चढ़ी' शैली के लोकगीतों में 90 फीसदी प्रतीक सेना पर आधारित हैं। हमारे नाना-दादा की पीढ़ी जो ब्रिटिश काल की सैनिक छावनियों में नौकरी कर के घर लौटी थी उस में एक कहावत प्रचलित थी :

रैहण बसदियां छौणियां
मन भाइयां मन मोहणियां'[18]

अर्थात, ब्रिटिश सैनिक छावनियाँ बसती रहें। ये मन को भाने वाली और मोह लेने वाली हैं। यही नहीं बल्कि सन 1940 तक आते-आते चमार जाति के सामाजिक -सांस्कृतिक उत्सवों में जो लोकनाट्य दिखाये जाते थे, उन में युद्ध, गोली, गोला, बारूद और वीरता के दृश्य दिखाये जाने लगे थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पंत द्वारा 'ग्राम्य' कविता संग्रह में लिखी गयी एक कविता जिस का शीर्षक है—'चमारों का नाच'। यह कविता सन 1940 में लिखी गयी थी। इस में चमार जाति के सालाना उत्सव 'चमार चौदस' (चैत्र मास की चोहदवीं) का उत्सव का दृश्य दिखाया गया है। कवि ने लिखा है :

अररर.....
मचा खूब हुल्लड हुड़दंग,
धमक धमाधम रहा मृदंग
उछल कूद, बकवाद झड़प में
खेल रही खुल हृदय उमंग
यह चमार चौदस का ढंग
घमासान हो रहा है समर
उसे बुलाने आए अफसर
गोला फट कर आँख उड़ा दे

छिपा हुआ वह, उसे वही डर
खौफ न मरने का रत्ती भर
वह भी फौरन बद्धी कसकर
काका को देता प्रतिउत्तर,
खेत रह गए जब सब रण में
तब वह निधड़क गुस्से में भर
लड़ने को निकला था बाहर'[19]

आधुनिक भारत के दलित आंदोलन के इतिहास को जब हम खोजते हैं तो पाते हैं कि पहला दलित आन्दोलन ब्रिटिश आर्मी में अछूतों की बहाली को ले कर हुआ था। दरअसल, ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय से ही सेना में अछूतों की भरमार थी। लेकिन ब्रिटिश सेना को जाति के आधार पर पुनर्गठित करने का आदेश सन् 1889 में लागू हुआ। इस के तहत सिख, गोरखा, जाट, मराठा और राजपूत आदि के लिए जातियों के आधार पर पल्टनें गठित की गयीं। इस के साथ पहले से ही सेना में अपनी सेवायें दे रहे महार व चमार आदि दलित जातियों के लोगों को सेवा मुक्त होने के लिए कहा गया। गटेकर कमीशन का फैसला हुआ कि जिन दलितों की सेवा 25 साल की हो गयी है, उन्हें तुरन्त पेंशन के लिए निवेदन पत्र दे देना चाहिए। जिन का कार्यकाल पूरा होने में एक या दो साल बाकी थे, उन्हें उतनी सेवा पूरी करने के बाद पेंशन लेने की अनुमति मिली।[20]

सन 1890-92 तक आते-आते अछूतों के लिए ब्रिटिश आर्मी में पूर्ण प्रतिबन्ध लग चुका था। सन् 1910 तक तो ब्रिटिश आर्मी में अछूतों का अस्तित्व ही मिट गया था। नई भर्ती पद्धति में योग्यता का मापदंड मार्शल और नॉन मार्शल रखा गया था। अब केवल मार्शल जातियाँ ही सेना में भर्ती हो सकती थीं। दलितों को गैर मार्शल मानते हुए सेना के दरवाजे उन के लिए बन्द हो चुके थे। सरकार के इस फैसले के आने से आर्मी की पेंशन पा रहे दलितों में बड़ी अशान्ति फैल गयी। इन लोगों ने इस के लिए आन्दोलन किया। अपने प्रतिनिधि भेज कर और निवेदन दे कर सरकार से अनुरोध किया कि हम लोग कई पीढ़ियों से सेना में नौकरी कर रहे हैं और सेना की पेंशन ही अब हमारा मुख्य पेशा बन गया है। इस लिए सरकार हम लोगों को नौकरी से निकालने की बजाए हमारी पल्टनों को बरकरार रखे। यह आन्दोलन लगभग पूरे भारत से उठा था। उदाहरण के तौर पर, मद्रास के परियाह अछूतों को जब आर्मी से निकाल दिया गया तब परियाह समाज के नेताओं ने इस के खिलाफ आवाज उठायी और ब्रिटिश सरकार को इस के लिए मेमोरेंडम और पीटिशन भेजा।[21] परियाह नेता पंडित सी. इय्योथी थोस अपने लोगों का हित सेना में देख रहे थे। उन के समाज के लिए सेना में लगा प्रतिबन्ध उस के भविष्य के लिए अन्धकारमय था। उन्होंने इस के लिए सन् 1894 में ही आवाज उठानी शुरू कर दी थी।[22] ऐसी आवाजें देश के दूसरे कोनों से भी उठ रहीं थीं। 8 जुलाई, 1917 ई. को टाऊन हाल मुंबई में अपने भाषण में आनरेबुल. मि. पी. कॅडेल, जो बंबई सरकार के चीफ सेक्रेटरी थे, ने कहा था—'अछूत नेताओं और फौजी पेंशनधारियों ने, पिछले कई पीढ़ियों से फौज में नौकरी करने का जो उन्हें अधिकार था, उस को प्राप्त करने के लिए बहुत भागदौड़ की। महाराष्ट्र के महारों ने तो करीब आठ बार निवेदन किया।[23] महाराष्ट्र में इस आन्दोलन के नेता के रूप में सब से पहले सूबेदार दुलभ्या सामने आये थे। वे अपनी अंतिम साँस तक इस के लिए लड़ते रहे। इस के बाद 24 नबम्बर, 1902 को महाराष्ट्र में शिवराम जानवे कांबले ने 51 गाँवों के महारों की एक सभा बुलायी और इस समस्या को ले कर एक निवेदन पत्र सरकार को भेजा। इस पर 1588 महारों के हस्ताक्षर थे। उन्होंने अपना दूसरा अधिवेशन 5 अप्रैल, 1910 को किया। इस की अध्यक्षता सूबेदार बहादुर गंगाराम कृष्णा ने की थी।[24] इस के बाद 14 दिसम्बर, 1910 को सूबेदार बहादुर गंगा राम कृष्णा ने भारत मन्त्री को एक पत्र भेजा था। इस की प्रतियाँ पार्लियामेंट के मुख्य सचिव, इंडिया हाऊस के सदस्य और भारत-यूरोप के समाचार पत्रों को भेजी गयी थीं। इस के बाद इस आन्दोलन को गोपाल बाबा कृष्णा बालंगकर ने आगे बढ़ाया। इन्होंने 1893 में भी अछूतों की फौज में भर्ती पर लगे प्रतिबन्ध के खिलाफ सरकार को निवेदन पत्र भेजा था।[25] डा. अंबेडकर के पिता सूबेदार रामजी राव भी इस आन्दोलन से जुड़े हुए थे।

दलितों का यह पहला आन्दोलन इसलिए भी पूरे देश में भड़क उठा था कि कंपनी सरकार में अछूत सैनिकों की भरमार थी। उन के साथ सरकारी अन्याय और विश्वासघात हुआ था। भारतीय बोर्ड के सेक्रेटरी के अनुसार अपने मूलरूप में उस समय बाम्बे आर्मी में सभी वर्गों के सैनिकों का जमावड़ा था। इस में मुसलमान, हिन्दू, यहूदी और कुछ संख्या में ईसाई भी शामिल थे। हिन्दू सैनिकों में महाराष्ट्र और पूर्वांचल के अछूत सैनिकों की संख्या बड़ी तादाद में थी। राजपूतों को छोड़ दिया जाए तो अन्य उच्च जातियों की तुलना में यह संख्या कहीं अधिक थी।[26] गदर पूर्व कम्पनी सरकार में अछूत सैनिकों की क्या स्थिति थी इसे आँकड़ों के माध्यम से देखा जा सकता है—ब्राह्मण 1/24, अछूत 1/6, मुसलमान 1/6, पंजाबी 1/8, राजपूत 1/4''[27]

हालाँकि, विश्व युद्ध पूरी मानव जाति के लिए विनाश बन कर आया था। लेकिन यह अछूतों के लिए एक अवसर के रूप में भी आया था। पहले विश्व युद्ध में मैन पावर की पूर्ति के लिए सेना में अछूतों के प्रतिबन्ध

को हटा दिया गया। बड़ी संख्या में अछूतों को नान कोम्बेटेंट के रूप में लिया गया था। साथ ही महारों की दो अलग से कम्पनियाँ भी खड़ी की गयीं। इन्हें 111 वीं महार बटालियन का नाम दिया गया। इस के बाद सरकार से दलित नेता अछूतों को अधिक से अधिक संख्या में भर्ती करने की माँग करने लगे। 8 नबम्बर, 1928 को पंजाब के नेतृत्व में यह माँग रखी गयी।[28] स्वामी अछूतानन्द ने तो यह माँग 1911 में की थी।[29] उधर, उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों जिसे आज उत्तराखंड के नाम से जानते हैं, में बाबू हरिप्रसाद टम्टा अपना शिल्पकार आन्दोलन चला रहे थे। उन्होंने 24-25 सितम्बर 1925 को अल्मोड़ा के अपने एक सम्मेलन में अलग से शिल्पकार बटालियन बनाने की मांग रखी। उधर, इलाहाबाद डिप्रेस्ड क्लासेस कोन्फ्रेंस ने जून 1931 में ब्रिटिश इंडियन सरकार के रक्षा मन्त्री और सेना प्रमुख को मेंमोरेंडम भेज कर यह मांग रखी कि दलितों का आर्मी में लड़ाका और गैर लड़ाका दोनों ही स्तरों पर बड़ी संख्या में लिया जाए।[30]

डा. अंबेडकर ने 20 मार्च, 1927 को महाड कुलावा जिला बहिष्कृत परिषद के अधिवेशन में सरकार से मांग की थी कि पहले की ही तरह से अछूतों को सेना में लिया जाए। सर्वविदित है कि गोलमेज कांफ्रेस में 31 दिसम्बर, 1930 को तो उन्होंने सरकार की इस बात पर तीखी आलोचना की थी। उन्होंने मांग की थी कि सरकार सेना में अछूतों की वैसी ही भागीदारी सुनिश्चित करे जैसी कम्पनी सरकार में थी। दूसरे विश्व युद्ध की आहट के साथ ही सेना में अछूतों की भर्ती तेज हो गयी थी। पंजाब रेजिमेंट की 27वीं बटालियन को जून 1942 में चमार बटालियन के नाम से खड़ा किया गया।[31] बाद में 1 मार्च, 1943 को इस बटालियन को एक स्वतन्त्र चमार रेजिमेंट बना दिया गया। दलितों की दो अन्य रेजिमेंटें महार रेजिमेंट और सिख लाईट इन्फेंटरी ऑफ मजहबी एंड रामदासिया भी बनायी गयी।[32] इस के अतिरिक्त 17वीं डोगरा रेजिमेंट, तीसरी मद्रास रेजिमेंट और बिहार रेजिमेंट में भी दलितों की भरमार थी।[33] पंजाब रेजिमेंट की 25वीं बटालियन कोली जाति की थी। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान भरपूर संख्या में दलित आर्मी में शामिल हुए। लड़ाका सैनिकों में ही 10,000 महार और 33,000 मजहबी और रामदासिया थे। अन्य दलित जातियों का आँकड़ा इस में अलग है। गैर लड़ाका के रूप में ही 4,10,000 दलित भर्ती किये गये थे।[34] हालांकि, सन 1946 के अन्त में चमार रेजिमेंट को भंग कर दिया गया था क्यों कि इस के सैनिकों ने नेता सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिन्द फौज के पक्ष में अपने रेजिमेंट में खूनी विद्रोह कर दिया था।

आजादी के बाद सब से पहले दलितों के उन्हीं घरों में चेतना, शिक्षा और सम्पन्नता आयी जिन घरों के लोग ब्रिटिश इंडियन आर्मी में थे। उन्होंने आर्मी से हासिल अनुशासन, शिक्षा और जागरूकता को अपने बच्चों पर लागू किया था। सब से पहले उन्हीं के घरों से होनहार बच्चे निकल कर आए। अपने फील्ड वर्क के दौरान मैंने इस से सम्बन्धित कुछ सैंपल इक्ट्ठे किये। उदाहरण के रूप में, प्रसिद्ध दलित लेखक भगवान दास जी का जन्म जतोग छावनी, शिमला में हुआ था। उन के पिता वहाँ कामगार थे। भगवान दास स्वयं एअर फोर्स में थे और दूसरे विश्व युद्ध के दौरान बर्मा में जापानी सेना के खिलाफ लड़े थे। उन के सैनिक जीवन का ही असर था कि उन का बेटा राहुल आज एम. बी. बी. एस. डाक्टर है और उन की तीनों बेटियाँ भी उच्च शिक्षित हैं।[35] इसी प्रकार, हरियाणा के सोनीपत जिले के कलांणा गाँव के फुलेराम भी ब्रिटिश आर्मी में थे। उन के एक बेटे आर. के. रंगा आई. पी. एस. थे और उन का पोता महेन्द्र रंगा दिल्ली में प्रिंसिपल कमिश्नर हैं।[36] इसी प्रकार, जम्मू के संबा से छज्जू राम थे। वे द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी से लड़े थे। उन का एक बेटा चीफ मैनेजर, पी. एन. बी. और दूसरा एडिशनल डायरेक्टर जनरल जी. एस. आई. से रिटायर हैं। जम्मू से 15 किलोमीटर दूर कन्ग्रैल गाँव के मिल्खी राम थे। वे ब्रिटिश इंडियन नेवी में थे। उन के दो बेटों ने भी बाद में सेना में नौकरी की और बड़े पदों से रिटायर हुए। उन में से एक तो ब्रिगेडियर रहे। उन का तीसरा बेटा इंजीनियर था। जम्मू के ही पी. आर. बनमोत्र भी सेना में थे। उन के छह बेटे थे। सभी राज्य और केन्द्र सरकार के ऊंचे पदों से रिटायर हुए।[37] हिमाचल के शिमला जिले की रोहडू तहसील के बराल गाँव के खांचिया राम भी ब्रिटिश इंडियन आर्मी में थे। वे कोली जाति से थे। शासन की तरफ से उन की सेवा के बदले उन्हें 10 बीघा जमीन मिली थी। उन का बेटा लसनू राम और पोता भजन दास हैं। उस जमीन पर उन्होंने सेब का बगीचा लगाया था। उसी कमायी से बागान बड़ा किया। आज वे रोहडू तहसील के एक सम्पन्न बागान मालिक हैं।[38]

संदर्भ

1. चमार, जी. डब्ल्यू. ब्रिग्स, अनुवाद, जय प्रकाश कर्दम, समता प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृ. 20-21
2. छांग्या रुख (पंजाबी आत्मकथा, बलबीर माधोपुरी, अनु. सुभाष नीरव), वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, 2007. पृ.45
3. जी. डब्ल्यू. ब्रिग्स, पृ.188
4. काउंसिल ऑफ स्टेट डिबेटस, वाल्यूम I, बुधवार 20 मार्च, 1947, पृ. 462, नेहरू मेमोरियल लाईब्रेरी एण्ड म्यूजियम, दिल्ली

5. Gaylor Johm, Sons of John Company : The Indian and Pakistan Armies 1903-91 Lancer Inter National, 1992
6. Nandini Guptu, Swami Acchutanand and the Adi Hindu Movement, Critical Quest, New Delhi, 2012, P. 4
7. Ibid. p. 8
8. Mark Juergensmeyer, Religious Rebels in the Punjab, (1982), Reprint, Navayana, New Delhi, 2009, P. 36
9. Beth Begar and Reet: Social Practices in Himachal Pradesh, May 12, 2020, WWW. Egeneral studies.com
10. मोहन सिंह जाटव (स्वामी जी के नाती), श्री स्वामी अछूतानन्द जी हरिहर (पम्फलेट), मंगल धाम, तिकोनिया, मुरार, ग्वालियर, पृ. 1
11. Nandini Gupta, P.12
12. मेरी पत्नी और भेड़िया, डा. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, 2009, पृ. 476
13. आदि डंका, (गुरमुखी) साप्ताहिक, सं. सन्तराम आजाद, 14 अप्रैल, 1942, जालन्धर, पंजाब, पृ. 1
14. आदि हिन्दू पत्रिका, सं. स्वामी अछूतानन्द हरिहर, 15 अगस्त 1932, कानपुर, उत्तर प्रदेश
15. आदि डंका, 14 अप्रैल, 1942, पृ. 1
16. आदि खण्ड काव्य, स्वामी अछूतानन्द हरिहर, प्रकाशक श्री जटिया म्युनिसिपल कमिश्नर एवं अध्यक्ष आदि हिन्दू सभा, कन्नौज, 23 मई, 1928
17. Stephan P. Cohen, The untouchable Soldiers: Caste, Poltics and the Indian Army, the Jornnal of Asian Studies, Vol. 28, No. 3, May 1969, P. 467 Jstore.
18. पंजाब-हिमाचल में पुरानी पीढ़ी के लोग इस कहावत को बोलते हुए आज भी सुने जा सकते हैं।
19. सुमित्रा नन्दन पंत, चमारों का नाच, ग्राम्य, कविता कोश, 1940, Kavitakosh. Org
20 बाबा साहेव डॉ. आंबेडकर जीवन और चिन्तन, वाल्यूम I, चांगदेव भवानराम खैरमोड़े, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 165
21. Manas Dutta, The army as a tool of social upliftment; The Experience of the Paraiyans in the Madras Presidency Army, 1770-1895, Social Scientist, Vol. 44, No. 314, March – April 2016, P. 66. Jstore.
22. Pandit C. Iyothee thoss; open letter to the Hon'ble sirinivasa Raghnaiyanger (Inspector Genaral of Registration) Madras, 1894,The-osophical society library, Ladyar, P. 4.
23. कोरेगांव की महार क्रांति, चन्द्रसेन बौद्ध, प्रकाशक अंकित गौतम, 63 गली न. 3, नई बस्ती देवली, नई दिल्ली, 2007 पृ. 35
24. चांगदेव भवानराव खैरमोड़े वाल्यूम I, पृ .230
25. चमार रेजिमेंट और उसके बहादुर सैनिकों के विद्रोह की कहानी उन्हीं की जुबानी, सतनाम सिंह, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 41
26. lexander Robertson, The Mahar Folk, Kaushalya Prakashan, N-11, C-3/24/3, Hudco, Aurangabad, Daharashtra, 2005, P. 87
27. डा. अंबेडकर, सम्पूर्ण वांग्मय, वाल्यूम 15 सामाजिक न्याय मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2000, पृ. 54
28. The Indian quarterly Register, Beinga quarterly Journal of India Public Affairs In matters Political, Social and Economic, etc, Vol. II, Jully- Dec. 1928, Number III-IV.
29. Katherine Mayo, Mother India, New Delhi 1997, P.116.
30. The Bombay chronicole, jujne 24, 1939, Microfilm no. May 12 June 27 NMML.
31. A History of the Chamar Regiment, File No. 601/99885/H, Defence Arehine, R.K. Purm, New Delh.
32. Will Cox Committee Report, Reorganization of the army and Air forces in India, Report of a committee set up by his excellency the commander in Chief in India, vol.I, 1945; P 220.
33. Legistlative Assembly Debates, Vol. II, 1944, 7th march 1944; P. 902.
34. Stephen P. Cohen, P. 458
35. S.R. Darapuri J.P.S., counter currents. Org. 26 May 2019.
36. My Personal Interview with mahender Ranga
37. My personal Interview with Dr. Sanjay Bhasin, Jammu.
38. My personal interview with Bablu Brakta Son of Shri Bhajan Das.

(लेखक जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली से 'चमार रेजिमेंट के इतिहास' पर पीएच. डी. कर रहे हैं। यह लेख उन के शोध कार्य के अंशों पर आधारित है।)

अंधेरे में उजाला

(उपन्यास 'मिट्टी बोल उठी' का एक अंश)

—बलबीर माधोपुरी

अपने बाबा की मुझे दिन में कई बार याद आती। वह आम तौर पर तीन-चार और कभी-कभी छह-सात दिनों के बाद घर में घुसता। वह अक्सर बेमौसमी फल जैसे पीले-रसीले बंबइया आम, मिठाइयों में जलेबियाँ, पेड़े और बरफी नमकीन में पकौड़े और बेसन वगैरह कागज के लिफाफे में डाल, कंधे पर लटकते गमछे के एक सिरे से बाँध कर लाता। छोटा भाई और मैं उछल-उछल कर दादी के आगे जा खड़े होते कि वह हमें जल्दी से ये सब माल खाने को दे दे। इस दौरान बाबा हमारा सिर सहलाता रहता और कहता, ''तुम्हारे लिए ही है मेरे पुत्रों जीते रहो, तगड़े होवो।"

मुझे पक्का याद नहीं, शायद तब मैं पाँचवी कक्षा में पढ़ता था। बाबा बरसातों में मुझे तेज बहाव वाली दो छोटी नदियाँ पार कराया करता था। घुटने तक बहती हुई नदी के पानी से निकलते हुए मुझे अपनी साँस सूखती महसूस होती। पर, बाबा होशियारी के साथ धीरे-धीरे चलता रहता। दरअसल, पहाड़ की तरफ से खड्ढ में आते बारहमासी के इस पानी ने हमारे गाँव छन्ना को अपनी दो धाराओं वाली दो छोटी नदियाँ बन कर घेरे हुए है। इन के किनारों के साथ-साथ बुंबला वाला नड़ा, खड़-खड़कां, सरकंडा, वन फूलों वाले रंग-बिरंगे घास-बूटे और बेर-झाड़ियाँ हैं। इन के फूल-फाहे हवा में उड़ते रहते और जब लहराते तो लगता जैसे हवा में पानी की तरह लहरें उठ रही हों। मैं दौड़ते खरगोश, तीतर-बटेर, भाँति-भाँति के पक्षी, साँप, नेवले, बगुले और फलाहों पर हवा के साथ झूलते बिजड़ियों के घोंसले देख मन ही मन प्रसन्न होता था।

मुझे कई बार याद आता कि बाबा ने एक बार कहा था, ''हम जमीन पर छन्न डालते हैं और ये बिजड़ा-बस्ती हवा में कंटीले दरख्तों की टहनियों के सहारे घोंसले डालते और बसाते हैं। देख कितनी कारीगिरी के साथ बिजड़ा बरसातों में घोंसले की मुलायम बुनतियाँ डाले जा रहा है।" मैंने कहा, ''बाबा! तुम बरसातों में अपनी खड्ढी की तानी में फुरती के साथ लहराती बुनतियाँ डालते हो। इन के अंडे देने की रुत आने वाली है। ये दूसरे परिन्दों से अपने बचाव के लिए पोखरों और नदियों के किनारे उगे दरख्तों की टहनियों के सहारे बड़ी जुगत के साथ अपनी बुनतियाँ डालते हैं।" तभी अचानक पीछे से एक आवाज आयी, ''अरे भाई संगतिया, पोते को सीधा-सीधा समझा कि मंगू राम ने हमारे बचाव के लिए आद-धरम मंडल का घोंसला बना दिया है। जोरावरों से रक्षा के लिए।" बाबा ने पीछे मुड़ कर देखा तो यह

रुलदा राम की आवाज थी। बाबा ने कहा, ''रुलदा राम, सदके जाऊँ तेरे! बिजड़ा अपनी अगली पीढ़ी को बचाने की खातिर सख्त मेहनत करता है और मंगू राम हमारी अगली औलादों के आदर-मान की जिन्दगी के लिए।''

बाबा ने बाद में बताया कि रुलिया राम को रुलदा राम भी कह लेते हैं। और फिर, मेरे बाबा ने गाँव के लोगों, खास तौर से दलित बस्ती के नौजवानों के साथ मिल कर चोई (छोटी नदी) पर लकड़ी का पुल बना लिया था। हम सब बालक दौड़ कर उस को पार करते और स्कूल पहुंच जाते। मुझे याद है कि गाँव के गरीब-गुरबे परिवारों में पढ़ाई-लिखायी के बारे में शिखरों का उत्साह था और उमंग भी। वह अब स्कूली पढ़ायी को अपना हक समझने लगे थे। उन के पुरखों ने बीसवीं सदी के पहले दशक में अदालती आदेश के माध्यम से तालीम का अधिकार हासिल कर लिया था। वे बातें करते, ''ब्राह्मणों और खत्रियों के बच्चे आर्य, सनातनी स्कूलों और सिखों के खालसा स्कूलों में पढ़ते हैं, पर हमारे साथ पुरानी इन्सानी गैर-बराबरी के व्यवहार और नाइन्साफी पर आधारित व्यवस्था वाली परंपरा है जहाँ हम पढ़ नहीं सकते।''

खैर, इस के अंदर किसी राज या रहस्य की बात नहीं, बल्कि भेदभाव की बात है। मेरे स्कूल में दाखिले के समय मेरे अछूत होने और निम्न जाति का होने ने बाधा उत्पन्न की। आखिर, मुझे माहिलपुर में चंदा सिंह रविदासिया की ओर से चलाये जा रहे शांति निकेतन में प्रवेश दिलाने का फैसला हुआ था। वह पोखर के नजदीक वाली कुइयाँ के पास दरख्तों की छाया तले गुरमुखी पढ़ाया करता था। बाबा ने खोज-पड़ताल की और पता लगा कि वह स्कूल बंद हो चुका है। एक दिन उस ने अपने मन को तसल्ली देने के लिए कहा, ''वहाँ कौन सा कोई प्रमाण पत्र मिलना था। चल तुझे आर्य स्कूल में पढ़ने डाल देते हैं। माहिलपुर के मोतबर बंदे मेरे से जूती-चप्पल ले कर जाते हैं, किसी की मिन्नत-याचना करता हूं।''

जहाँ तक मुझे याद है, आज की तरह उस समय वर्ण-धर्म से बाहर के लोग पढ़ायी का महत्व समझने लगे थे। वे स्कूलों के मास्टरों की धार्मिक कट्टरता, जात-पाँत, छुआछूत, तिरस्कार, ताने-उलाहने, मजाक और अपमान आदि को सहन करते हुए हर हाल में बच्चों को पढ़ाना चाहते थे। बूढ़े-बुजुर्ग बातें करते कि कुदरत ने सब के शरीरों के अंग एक बराबर लगाये हैं और एक जैसा दिमाग खोपड़ी में डाला हुआ है। मेरे बाबा की इस सोच के विरुद्ध राजपूत और ब्राह्मण हमेशा रहते। राजपूत सहित ब्राह्मण बाबा का अपमान करते कि अछूत हमारी बराबरी करने लगे हैं। वे बिना झिझक सरेआम कहते, ''यदि ये परिवार पढ़ गया तो हमारा काम-धंधा और खेतों में काम कौन करेगा? हम चंद्रवशी राजपूत राजा होते हैं।''

और पुल का दूसरा लाभ यह हुआ कि किसी को आटा पिसाना हो, तेल की घाणी निकालनी हो, रूई पिंजवानी हो या कपड़ा-लत्ता खरीदना हो, सब को सारे मौसमों में आसानी हो गयी। पहले-पहले बाबा की 'उल्टी खोपड़ी वाला बंदा' के तौर पर चर्चा हुई थी कि ये क्या इतना लंबा पुल बना लेगा? बल्लियाँ-फट्टे और शहतीरें कहाँ से लायेगा? लेकिन बाबा गाँव के पाँच-सात युवकों के साथ अपना लक्ष्य हासिल करने के लिए अपने मोर्चे पर डटा रहा। वह उन्हें बताता, ''मेरे हिम्मती पुत्रों, हम जंगलात महकमे के कानून और कुदरत के नियमों को तोड़े बगैर लोगों से फट्टे-बल्लियाँ माँग लेंगे। साथ वाले गाँव से भी मदद लेंगे। हमें अपनी होनहार पीढ़ी की जिन्दगी संवारनी है। उन के बारे में भी सोचना है जो वनों को काट कर बेच जाते हैं और नाम गरीबों का लगाते हैं। यह भी सोचना है कि हमें चारागाहों में बकरियों और गायों को चराने क्यों नहीं देते और अपने रेवड़ चरवाते रहते हैं। घरों के चूल्हे में लक्कड़ जलाने का ख्याल मन में न लाओ। चलो, हिम्मत करो, थक जाओ तो आराम कर लेना, पर हौसला नहीं छोड़ना। छोटी राहें ही बड़ी राहों में बदलेंगी। अगर हमारी आने वाली पीढ़ियाँ कामयाब होंगी तो तुम्हारी आज की ये कोशिशें उन की तरक्की का बड़ा जरिया बनेंगी चलो, उठो मेरे शेरों!''

यह बाबा की चितकबरी दाढ़ी की वजह से था या फिर उस की लंबी बातों के अंदर की दलीलों के कारण, हमारी दलित बस्ती के लड़के बिना हील-हुज्जत के बाबा के इशारे पर चलने लगे थे। गर्मियों की छुट्टियों में बाबा कई बार मुझे अपने साथ माहिलपुर, कभी गढ़शंकर, कभी सैला खुर्द और कभी रेल गाड़ी में बिठा कर जैजों ले जाता था। गाड़ी में बहुत भीड़ होती थी। हम कई बार गाड़ी के लकड़ी वाली फर्श पर बैठ जाते। मैं बीच-बीच में उठ कर खड़ा हो जाता और जंगली दरख्तों और छोटी पहाड़ियों को पीछे की ओर तेज रफ्तार में भागते देखता। कभी रेत के ऊंचे-ऊंचे टीले आते जिन्हें मूंगफली की हरियावल ने ढका होता। जब कहीं गाड़ी की रफ्तार धीमी पड़ती तो किसी टीले पर तरबूज, खरबूजे, कद्दू, खीरे और टमाटर दिख जाते। जैजों स्टेशन पर उतर कर हम जैजों शहर के लिए पूरब दिशा की ओर चल देते। प्लेटफॉर्म के सिरे पर रेल के डिब्बों में बोरियों से भरा सामान, बाण-बगड़ और बाणसू घास लादा जा रहा होता। उन्हें बेचने-कमाने के लिए लाखे रंग के स्त्री-पुरुष घास की गठरियों को सिर पर उठाये तेज कदमों से चल रहे होते। करीब ही बन्दर उछल-कूद मचाते दिखायी देते। या फिर, किसी की कोई खाने वाली वस्तु मुंह में कस कर पकड़े भागते दिखते। मुख्य बाजार से पहले बेशुमार घोड़े, खच्चर और ऊंट बाँधे या लादे जा रहे होते। आगे खुट्टाँ की हट्टी से पेड़े और दूध खरीद कर वह मुझे

पिलाता और खुद भी पीता। मैं बड़ी-बड़ी, ऊंची हट्टियों के चौबारों के छज्जों पर ततैयों और मधुमक्खियों के लगे छत्तों को गौर से देखता। उन पर बैठती-उड़ती मक्खियाँ जबरन नजरों को अपनी ओर खींचतीं। ऐसे ततैयों और मधुमक्खियों के झुंड मैंने अपने छप्पर के करीब वाले आम के बूटे पर पहले ही देखे हुए थे। खुट्ट की हट्टी के पास दूर-दूर तक फैले आम के बूटे की खोहड़ से तोते निकलते और उड़ कर दूसरे बूटे पर जा बैठते।

मैंने आपस में जुड़ी हुई ये ऊंची-ऊंची, विशाल और शानदार इमारतें देखीं। हरेक पर अंगरेजों और मेमों की खूबसूरत तस्वीरों की जड़त या सीमेंट के साथ संवारे नैन-नक्श, घुंघराले बाल, मासूम आँखें और चेहरे मन को आकर्षित करते। लाल ईंटों की दीवारों में बनाये आलों और झरोखों या उन के अंदर अंगरेजों-मेमों के उकेरे छोटे-छोटे बुत, कई-कई रंगों के होने के कारण उन्हें लगातार देखते रहने का चित्त करता। तब, मुझे अपने गाँव के छप्परों, पुराने घर की कच्ची दीवारों और गलियों-नालियों की याद आयी। मुझे कई बार लगता कि थोड़े-से फासले पर कितनी भिन्न, रंग-बिरंगी और भाग-दौड़ वाली दुनिया है। यह बाजार रात-दिन सजा-धजा और भीड़ से भरा रहता है। कभी-कभी बाबा और मैं यहीं पर अपने जूती-जोड़े वाले खोखे के अंदर सो जाते। दिन के समय गऊशाला पर सांड़ों की हरकतें मुझे बार-बार दिखतीं बेशक मैं आँखें बंद कर लेटा रहता।

बाबा जब कभी मुझे अपने साथ ले जाता तो उस के सिर पर चादर में बंधी हुई जूतियों की गठरी भी होती। वह अपने खोखेवाली दुकान के आगे उसी चादर पर जूतियाँ सजा लेता। इस से आगे नाइयों, कसाइयों, धोबियों, लुहारों, कुम्हारों, झीरों और कंजरों के मुहल्ले होते। बाजार में हमारी दुकान के आगे से भूरी आँखों वाले और गोरे-चिट्टे भरपूर कदकाठी वाले अधेड़ जवान गुजरते जिन के सिरों के बाल धौले होते। बाबा उन्हें देख कर बताता, ''ये अफगानी पठान हैं। कई समरकंद, सारकंद, ताशकंद के हैं। देख तो, कैसे अकड़े पड़े हैं।" मैंने कहा, ''इन की मेहंदी रंगी दाढ़ी और सिर के बाल ऐसे लगते हैं जैसे बकरीद वाले दिनों में बकरों और मेमनों को मेहंदी और दूसरे रंगों से सजाया होता है।" ये पठान कई बार हमारी दुकान पर रुक जाते। वे कई बार कोई जोड़ा खरीद लेते और कभी बिना खरीदे गुजर जाते। वे कई किस्म की जूतियों की बात करते। दादी ने मुझे कई बार बताया और स्कूल मास्टर की तरह रटाया था कि हमारा पुश्तैनी पेशा मरे हुए पशुओं की खालें उतारने, उन्हें पकाने और बछड़े और कट्टे की खालों से नरम-नरम, अलग-अलग किस्म की जूतियाँ बनाना है। वे रात में सोते समय बाबा द्वारा बनायी हुई गरगाबी, कुरम की जूती, धौड़ी जूती, दुखली जूती के माने हुए कारीगरों के तौर पर बातें सुनातीं। मुझे कई बार लगता कि दिन में पंडित पोहले राम का क्लास और रात को मेरी दादी का क्लास होता है जो मुझे नींद की भाँति घेरे रखता। वह आगे लड़ी से लड़ी जोड़ कर बताती, ''जवानी के वक्त तेरे बाबा ने दो-तीन जोड़े जूती अजगर की खाल के बना कर दिए थे।" वह फिर उत्साहित हो कर चाव से बताती, ''तेरे बाबा अपने हाथों ब्याह शादी में जाने के लिए जरीदार कढ़ाई वाली जूतियाँ बना कर देते। हाथों का बड़ा हुनरमंद है तेरा बाबा। बेशक लक्की जूती, खोसा और सितारों वाली जूतियों के कारीगर रखे हुए हैं, पर अपने टब्बर की खातिर अपने हाथों जोड़े तैयार करता है।" पल भर बाद शायद उसे कुछ याद आ जाता और वह खुशी की रौ में बताती, ''जैसे कई तरह की जूतियाँ हैं, वैसे ही हमारे गाँव में जातों का सतनाजा। कहते—हम राजपूत, जसवाल और डडवाल होते हैं। हम लड्डू, डोड(दोद) और कटरैड़ होते हैं। कइयों का अता-पता ही नहीं, कहने को वे भी राजपूत। लड़ाई-झगड़े में सब से आगे, प्लेग पड़े।" बीच में टोक कर मैंने दादी से पूछा, ''प्लेग?" बिना उत्तर दिये दादी ने अपनी बात जारी रखा, ''तेरा दादा-पड़दादा खूब कब्रें खोदता रहा, इन मरजाणों की।" ''कब्रें?"—मैंने सवाल किया। ''हाँ", ''जैसे मुसलमान मुर्दों को कब्रों में दबाते हैं।" दादी ने बताया।

फिर मैंने पूछा—''हिन्दू-सिख तो अपने मुर्दों को जलाते हैं। कब्रों में दबाने से वो मुसलमान नहीं बनते थे?" दादी ने बताया—''गोरे, है तू बेशक बच्चा, पर सयाना होने का भरम डालता रहता है। प्लेग के किटाणु हवा में मिल कर जिन्दा लोगों को बीमारी लगा देते थे। उन्हें धर्म-जात, अमीर-गरीब, जमींदार-मजूर नहीं दिखता। वे आप भी नहीं दिखते और लाखों-करोड़ों जानें ले कर भी इन का पेट नहीं भरता।" मैं दादी के मुंह की तरफ एकटक देखता रहा। दादी बोलती गयी, ''धरती तो सब की साझी माँ है। हम सब इस के धी-पुत्र हैं। जब प्लेग पड़ा था तो।" कहते-कहते दादी रुक गयी। उस की आवाज में अंतर आ गया और उस का कंठ भर्रा गया। पर खुद को संभालते हुए आगे बोली, ''प्लेग की बीमारी से कहीं कम दुनिया मरी थी तब? घर के घर खाली हो गये थे और कब्रें खोदने को हमारे लोग बेगार करते थे।" ''बेगार?" मैंने उतावली में दादी से पूछा। एक गहरी साँस लेते हुए दादी ने बोला—''क्या-क्या समझाऊं तुझे गोरे! काम की एवज में कुछ देते थोड़े हैं। अपने जूती-जोड़े, बुनाई, गुड़ाई और कटाई का सारा काम छोड़ कर मुफ्त में काम करते हैं।" इस दौरान माँ हमारे बीच पास आ बैठी। लेकिन दादी अपनी बात बताती रही, ''और मरे-जिन्दों का लड़ाई-झगड़ा अलग। रोना-पीटना और विलाप सारा दिन कई घरों में होता।" ''जब इस तरह बंदे मरते थे, तब भी जमींदारों को तरस नहीं आता था?" मैंने पूछा। तब, दादी गुस्से में कहती, ''तरस इन पापियों

को कहाँ आता! रोज कहते थे, अब भी कहते हैं, राम-नाम सत्य है, सत्य बोलो गत्य है। बंदे ने खाली हाथ जाना है।" मैंने उस की हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा—''हाँ दादी, यह बातें तो मैंने माहलपुर के हिन्दुओं के मुंह से सुनी है जब वे अर्थी ले जाते हैं। कई बार बातें किया करते हैं, आखिर बंदे ने राख की ढेरी होना है, और कब्र में पड़ी लाश तो बिलकुल मिट्टी में मिल जाती है।"

''गोरे, हमारे बंदे जब इन की कब्रें खोदने जाते थे, घर आ कर बताया करते थे कि अब वो चौधरी साला पड़ेगा उस कब्र में, अब लंबड़दार पड़ेगा उस कब्र में जो हमारे परिवारों, धीओं-बहनों को तंग करता था।" यह सुन कर मुझे भी छोटी-सी हंसी आ गयी। लेकिन मेरी माँ बगैर कोई बात किये उठ कर चली गयी। न जाने फिर दादी के चित्त में क्या आया, कहने लगी, ''और हमारे बंदे कहते हैं, वे हमें धर्मों-जातों की तराजू के पलड़ों में डाल कर तोलते हैं, मेहनतकश इंसान नहीं, बल्कि हैवान से भी नीचे समझते हैं। उन की ऐसी सोच को पता नहीं कब प्लेग पड़ेगी।" फिर बताने लगी, ''हैजे और तपेदिक के साथ भी टब्बरों के टब्बर खत्म हो गये थे।" आगे दुखी हो कर कहने लगी, ''वो दिन रब बैरी दुश्मन को भी न दिखाए दुबारा।"

दादी ने अपनी बात की लड़ी फिर से शुरू कर दी। उस ने बताया, ''गेहूं को दाती(दरांती) पड़ने वाली थी एक बार। लोग एक लाश शमसान को ले जाते तो लौटते को दूसरा मुर्दा तैयार होता।" ''हैंअ!" मैंने आश्चर्य व्यक्त किया। ''पूछ न गोरे! ये नामुराद बीमारी कई साल रही। लाखों बूढ़े मर्द-औरत, जवान लड़के-लड़कियाँ और बच्चे सब के सब पंजाब में ही मर गये।" ''दादी, कैसी बीमारी कि इतने लोग पिछले सालों में लाखों के हिसाब से मर गये?"—मैंने हैरान हो कर पूछा। ''इसे छूत की बीमारी बताते हैं"—दादी ने बताया। ''छूत तो हमारे से ज्यादा राजपूतों, जट्टों, सैणियों और तरखानों को लगती है, पर वो तो मरते नहीं?"—मैंने सवाल किया। ''गोरे तू तो भोला है। उन को मन का रोग लगा हुआ है और प्लेग तन को लगती है। एक-दूजे को जाग की तरह लग जाती है"—दादी ने उत्तर दिया। मैंने फिर सवाल किया—''तो फिर हमारे गाँव में कैसे फैली?" दादी ने थोड़ा नाराज होते हुए कहा, ''गोरे, तू भी बात में से बात निकाले जाता है। ले सुन फिर।''

उस ने आगे बताया, ''जितना मुझे आस-पास से पता लगता रहा। बंगियाँ के पास खटकड़ कलां का ब्राह्मण था राम सरन, पिछली सदी में तीन साल रहते वैसाखी वाले महीने (28 अप्रैल, 1887) हरिद्वार से बहुत तेज बुखार में आया था और जल्दी ही मर गया। पर अगले पाँच सालों में गाँव का कोई जीव न मरा। और ये बीरमपुर जो गढ़ शंकर के पास है, वहाँ प्लेग का पता लगा। फिर जलंधर और होशियारपुर के गाँवों में फैल गया। सरकार ने गाँवों के लोगों को बाहर जाने से रोका, मरीजों को अलग रखा कि दूसरों को छूत न लग जाए। लोगों ने और सरकार ने मिल कर खूब उपाय किये। गढ़शंकर में पुलिस को लोगों पर गोली चलानी पड़ी थी कि सारा कस्बा खाली करो।" ''और फिर लाखों में लोग मर गए?''—दादी ने बताया। ''ओह!" मैंने दुख व्यक्त किया। ''और नहीं तो क्या? पंजाब में लाखों मरे और होशियार पुर जिले में बताते हैं, प्लेग से पहले छह सालों में पैंतीस-चालीस हज़ार बंदे मर गए थे, पचास-साठ मरीजों को पता लगा था"—दादी ने जानकारी दी। ''इतना कहर?" मैंने दुख व्यक्त किया।

''और बताऊं?''—दादी ने कहा। फिर वह बताने लगी, ''जब मैं नयी-नयी ब्याह कर आयी थी तो तेरे बाबा की कद-काठी का जलवा देखने वाला था। वह सुन्दर, आकर्षक जवान, सुडौल शरीर और हद दरजे की फुर्ती से बोझ उठाता था। जब पच्चीस-तीस सेर की मूगली घुमाता तो उस के हमउम्र देखते रह जाते थे।" फिर उस को न जाने क्या याद हो आया, वह फिर से बताने लगी, ''सच, मैं बात कर रही थी, रोज होती मौतों को देख तेरे बाबा और दूसरों ने आठ-नौ कब्रें एक ही बार में खोद डालीं कि हम भी चार मन दाने कमाते हैं। कब्रें खोदने के बदले नाशपीटे कौन-सा कुछ देते थे।" ''फिर?"—मैंने पूछा। ''फिर क्या?'' कह कर दादी ने अपनी बात जारी रखी, ''जमीन बड़ी सख्त थी। कब्रें खोदते-खोदते सभी की हथेलियों पर छाले पड़ गए। वैसे भी, अपने कंडी इलाके की जमीन पथरीली और लोहे जैसी है। पानी काफी गहरा और कम है। हमारे गाँव जैसी नरम थोड़ी हैं जमीन। हमारे गाँवों के इलाके को 'सीरोवाल' कहते हैं, जहाँ बरसातों में अपने जमीन से सोते फूटते रहते हैं।"

''हैं! इतना बढ़ा-चढ़ा कर न बता अपने गाँव को दादी"—मैंने कहा। ''हैं क्या? बारह-चौदह हाथ की गहराई पर जमींदार कुआँ लगा लेते हैं। बताते हैं, हमारे गाँव में फसलों का झाड़ भी सारे पंजाब में मशहूर है"—दादी ने बताया। ''दादी कब्रें?"—मैंने उसे याद दिलाया। उस ने मेरे हिसाब की रकम का जवाब जैसे पहले ही निकाल लिया हो। बीच में टोकते हुए हंस कर बोली, ''कहते, तुम हम जिन्दों की ही कब्रें खोदे जा रहे हो। हम अपनी कब्रें खुद खोद लेंगे। इस तरह जान छूटी थी हमारे लोगों की, कब्रें खोदने की बेगार से"—दादी ने उत्तर दिया। ''दादी तुझे ये सब कैसे रटा हुआ है? मैंने तो अपने स्कूल की किताबों में नहीं पढ़ा"—मैंने पूछा। ''पुत्त, जब तू अभी स्कूल जाने भी नहीं लगा था, तब ऊड़ा-ऐड़ा (गुरमुखी की वर्णमाला के पहले अक्षर) मैंने ही तुझे सिखाया था कि नहीं?"—दादी ने सवालिया अंदाज में पूछा। ''यह तो ठीक है, पर.."—मैंने अपनी स्वीकृति दी। ''समझ गयी''—दादी ने कहा।

दादी ने बताया, ''तेरा भाईया (पिता) ग्रंथी था। रोज नियम से उस ने मुझे गुरमुखी सिखायी थी ताकि मैं अपने बच्चों को चिट्ठी-पत्री पढ़ने लायक बना सकूं। और फिर, तेरा बाबा शहर को आता-जाता नयी-पुरानी किताबें, अखबारें ले आता था। 'गदर' और 'आदि डंका' मैं बड़े चाव से पढ़ती थी। वहीं से पढ़ कर पता लगा था कि कंडी में राजपूतों वाले गाँवों की ओर ऊपर वाली पहाड़ियों में बसते हमारे लोगों को वे भीषण गरमी के दिनों में भी छतों पर सोने नहीं देते। हमारे गाँव में इन की संख्या कम होने के बावजूद इन का दबदबा जोरावर था।" उस ने आगे बताया, ''तेरे बाबा ने तभी तो गाँव के बाहरी तरफ छन्न डाल ली थी ताकि बच्चे खुल कर खेलें-कूदें। पहले चार मरले खरीदे और फिर तेरे बापू के नाम चार मरले और खरीद कर साथ मिला लिए। इस जगह के कब्जे और मालकी के बारे में ना ही पूछ..।"

दादी ने नयी पूनी कातनी शुरू कर दी जैसे दोपहर में चरखे पर पूनी कातते ऊबती-थकती नहीं थी। जब मैं उस की ओर गौर से देख रहा होता तो वह चरखे की ताँत और लंबी कर लेती थी। उधर तड़के से सवेर तक पड़े मेंह के कारण पहाड़ियों की तरफ के आम, बरगद, पीपल, कीकर और छन्न के करीब वाले नाखों, अमरूदों और गलगल के बूटे निखरे हुए थे और चमचमा रहे थे। बड़ी पहाड़ी का साया छोटी पहाड़ी पर पड़ने से ऐसा लगता जैसे सूरज जल्दी छिपने वाला हो। और, दादी की अकथ-कथा संध्या के पड़ रहे अँधेरे की तरह निरंतर जारी थी। शायद वह मेरी माँ को बताने-सुनाने की मंशा के साथ उस की तरफ देखती हुई कहने लगी, ''तुम्हें पता है न कि अपनी झोपड़ी छन्न पूरे गाँव में जरा हट कर और ऊंची जगह पर है। कहीं कम बखेड़ा खड़ा किया था इन बेरहमियों ने? कहते, 'तुमने ऊंचाई पर और सूरज के उगने की तरफ अपनी छन्न क्यों डाली है?.. और तो और, हमारी बस्ती के घरों के अंदरवाले आँगनों में बेटों सरीखे पाले दरख्तों को जबरन काट कर ले जाते और कहते, घरवाली जगह पर सिर्फ तुम्हारा कब्जा है, मालिकी तो हमारी है।" सवेर की रुक रुक कर हुई बरसात की तरह वह फिर बोली, ''विवाहों में हमारे गरीब-गुरबों को पक्की रोटी करने की मनाही है। बाजा नहीं बजाने देते और खुद हमारे किसी बंदे की पीठ पर ढोल-नगाड़ा बाँध कर उस को बजाते हैं। अपनी बेटियों को डोली में बिठा-सजा कर विदा करते हैं और हमारी धी-बेटी को पीढ़ी पर बिठा कर विदा करने को मजबूर करते हैं।" पल भर बाद भरे मन के साथ वह कहने लगी, ''तब ये शोहदे हमारी धी-बहनों से भ्रष्ट नहीं होते। शामलात की तरह जब चाहें इन का चौगुना हरा-कचूर घास चर जाएं, नाशपीटे न हो।"

ये बातें सुन कर मेरी माँ उठ कर चल दी। हालांकि, वह थोड़ी देर पहले आ कर बैठी थी। 'कब्जा तुम्हारा, मालिकी हमारी', 'हमारी धी-बहनों से भ्रष्ट नहीं होते' और शामलात' जैसे शब्दों के अर्थ मेरी समझ में अधिक न पड़े। कभी-कभी दादी कह भी देती, ''गोरे, शायद तेरे पल्ले मेरी कोई बात पड़ती भी है कि नहीं, पर मैं अपना मन हलका जरूर कर लेती हूं।" और मेरी समझ से परे और हैरानी भरा यह भी था कि माँ को हमारे पास बैठना भारी क्यों लगता था। वह चौके में जा कर आग जलाने के लिए फुंकनी में फूंकें मारने लगी, मानो अंदर से किसी लपट को बाहर निकालना चाहती हो। धुएं ने उस की आँखों को जलते-बुझते अंगारों की भाँति सुर्ख कर दिया था। बीच-बीच मुंह में धीमे-धीमे बड़बड़ाये जाती जैसे चूल्हे में लक्कड़-अंगार 'तिड़-तिड़' कर रहे थे। शायद वह माँ द्वारा बार-बार कोई तजवीज दिये जाने का नतीजा था। दादी का कहा मेरे कानों में अक्सर गूंजता है, ''प्यारो, तूने क्यों ना ना की रट लगा रखी है। अभी पहाड़ जितनी उम्र पड़ी है तेरी।" अंधेरा गाढ़ा होने लगा। इक्का-दुक्का तारे चाँद की अनुपस्थिति में अपने अस्तित्व के लिए टिमटिमाने लगे। उधर चूल्हे में से उठती लपटों की रोशनी में हमारे साये बड़े हो गये। बकरियाँ और मेमने 'मैं-मैं' करते और गाय-भैंस जुगाली करती दिखायी दीं।

पंजाबी उपन्यास 'मिट्टी बोल पई' जिस का हिन्दी अनुवाद 'मिट्टी बोल उठी' नाम से आने वाला है, यह उस का दूसरा चैप्टर है। पंजाबी से हिन्दी अनुवाद सुभाष नीरव ने किया है।

लेखक संपर्क : 9350548100
अनुवादक संपर्क : 9810534373

अपनी सामाजिक पहचान की खोज में लेखक

—प्रो. कालीचरण 'स्नेही'

बरार दक्खिन की सल्तनतों में से एक थी। बहमनी साम्राज्य के विघटन के बाद उस से अलग होने वाला पहला क्षेत्र बरार था। इसे फतहउल्ला इमादशाह ने 1484 ई. में स्वतंत्र घोषित कर इमादशाही वंश की नींव डाली। 1574 ई. में बरार को अहमद नगर ने हड़प लिया। बरार या वरहाड (व-हाड) नाम की उत्पत्ति ज्ञात नहीं है। इस के पहले प्रामाणिक रिकार्ड से पता चलता है कि यह आंध्र या सातवाहन साम्राज्य का हिस्सा था। 12वीं शताब्दी में चालुक्यों के पतन के बाद, बरार देवगिरि के यादवों के अधीन आ गया और 13वीं शताब्दी के अंत में मुस्लिमों के आक्रमण तक उन के कब्जे में रहा। दक्खन में बहमनी सल्तनत की स्थापना के बाद उसे पाँच प्रांतों में बाँटा गया था जिस में से बरार भी एक था। इस का शासन शाही व्यक्ति द्वारा किया जाता था और उस के पास एक अलग सेना भी उपलब्ध थी। आगे चल कर इस प्रांत को दो अलग-अलग क्षेत्रों में विभाजित किया गया जिस का नाम उन की राजधानियों गाविल और माहुर के नाम पर रखा गया।

ऐतिहासिक तौर पर बरार एक अपरिभाषित सीमा क्षेत्र वाले प्रांत का नाम था जिस का प्रशासनिक महत्त्व समाप्त हो चुका है। अब विदर्भ शब्द ने इस का स्थान ले लिया है। वैसे, यह नाम काफी बड़े क्षेत्र के लिए प्रयुक्त होता है जिस में नागपुर एवं महाराष्ट्र के सुदूर पूर्वी हिस्से सम्मिलित हैं। तेरहवीं शताब्दी में मुस्लिम सेनाओं के मैदानी आक्रमण के बाद बरार एक स्पष्ट राजनीतिक इकाई के रूप में उभरा। मुस्लिम साम्राज्य के बिखरने तक यह अनेक राज्यों का हिस्सा रहा और उस के बाद हैदराबाद निजाम के अधीन हो गया। 1853 ई. में यह ब्रिटिश नियंत्रण में आया और 1948 ई. में प्रांत के रूप में इस का अस्तित्व समाप्त कर दिया गया। अमरावती और अकोला इस के मुख्य शहर हैं। बुलढ़ाना-यवतमाल पठार पर बरार का सुदूर दक्षिणी इलाका पुर्णा नदी बेसिन की तुलना में कम विकसित है।

1490 ई. में बहमनी सल्तनत के विघटन के दौरान फतहउल्ला इमाद-उल-मुल्क जो पूर्व में पूरे बरार को संचालित किया करता था, इसे स्वतंत्र घोषित कर दिया और बरार सल्तनत की इमादशाही राजवंश की स्थापना की। वह गाविल का राज्यपाल तो था ही उस ने माहुर को भी अपने नये राज्य में मिला लिया और अचलपुर में अपनी राजधानी ले गया। इमाद-उल-मुल्क जन्म से एक कनारी हिन्दू था, लेकिन विजयनगर साम्राज्य के खिलाफ अभियानों के दौरान उसे बाल्यवस्था में ही अपहरण कर ले आया गया और एक मुस्लिम के रूप में पाला गया था। गाविल गढ़ और नरनाला में भी उस के द्वारा गढ़ बनाये गये थे। 1504 ई. में उस की मृत्यु हो गयी और उस के उत्तराधिकारी, अला-उद्-दीन

ने गुजरात के सुल्तान बहादुर शाह की मदद से अहमदनगर की आक्रामकता का सामना किया। अगले शासक, दरिया ने अहमदनगर की आक्रामकता को रोकने के लिए बीजापुर के साथ गठबंधन करने की कोशिश की, लेकिन असफल रहा। 1568 ई. में जब बुरहान इमादशाह को उस के मंत्री तुफैल खान ने पदच्युत कर दिया और राजा बन गया तो इस से अहमदनगर के मुर्तजा निजाम शाह को आक्रमण करने का एक बहाना मिल गया और उस ने बरार पर आक्रमण कर दिया। तुफैल खान, उस के बेटे शम्स-उल-मुल्क एवं पूर्व राजा बुरहान को कैद कर मौत की सजा दे दी तथा बरार को अहमदनगर सल्तनत में मिला लिया।

बरार जाति क्या है? ये महाराष्ट्री-मिश्रित तेलुगु बोलते हैं। इसी से कुछ विद्वान इन के मूल को तेलुगु प्रांत का मानते हैं। लेकिन इन के रीति-रिवाज, मान्यताओं और शारीरिक बनावट से समाजशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ये उत्तर भारत से आये हैं और राजपूतों की संतान हैं। बरार, गुजरात और पश्चिम भारत में भी उछलिया जाति के रूप में काफी संख्या में मिलते हैं। बरार राज्य का संक्षिप्त इतिहास इसी रूप में उपलब्ध है। बरार राज्य की भौगोलिक स्थिति बदलती रही है। इस के शासक भी बदलते रहे हैं। उपलब्ध तथ्यों और ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आजादी के पूर्व बरार राज्य और मध्य प्रान्त मिल कर नागपुर-बुलढ़ाना तथा यवतमाल तक फैला हुआ था। सत्ता संघर्ष में इस की संस्कृति लगातार बदलती रही। बरार, अब एक जाति के रूप में भी मान्य है, इसलिए इतना तो तय है कि बरार जाति के लोग, आयुधजीवी (मार्शल रेस) रहे हैं। इन के व्यवसाय तथा व्यवहारों में लगातार परिवर्तन होता रहा है। जहाँ जिन भौगोलिक और सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों में बरार जाति के लोग रहे हैं, उस का इन के रहन-सहन, खान-पान तथा व्यवसाय पर असर पड़ा। यही कारण है कि कहीं इन्हें उच्च जाति में तो कहीं कमतर जातियों में गिना जाता रहा है। आज 'बरार राज्य' का अस्तित्व भले ही मिट चुका हो, पर 'बरार' जाति के रूप में इस की पहचान अब भी शेष है।

झाँसी के आस-पास बरार जाति की अच्छी खासी आबादी निवास करती है। बरार जाति की आबादी वाले क्षेत्र में झाँसी के अलावा ललितपुर, टीकमगढ़, दतिया, जालौन तथा भिंड जिले की लहार तहसील शामिल है। दो जिलों में इस जाति को अनुसूचित जाति में शामिल कर लिया गया है, पर टीकमगढ़, ललितपुर, जालौन एवं झाँसी जिले की अनुसूचित जाति की सूची से बरार जाति को आज भी बाहर रखा गया है। इस सम्बन्ध में रोचक तथ्य यह है कि इन इलाकों में बरारों को सामाजिक रूप से 'बसोर' के पर्याय के रूप में मान्यता मिली हुई है, परन्तु अब शिक्षित समुदाय द्वारा बरार जाति को 'धानुक' जाति के अन्तर्गत परिगणित किया जाने लगा है। बंशकार, बरार जाति का ही उपनाम है। मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश की अनुसूचित जाति की संवैधानिक सूची में बंशकार और बरार जाति को शामिल नहीं किया गया है। इसे शामिल कराने के लिए बरार जाति के कई सामाजिक संगठन, दशकों से यह माँग अनेक मंचों से उठाते रहे हैं, पर दतिया एवं भिंड जिलों को छोड़ कर बरार जाति को अनुसूचित जाति की सूची में नहीं रखा गया है। इन जिलों में 'बराहर' जाति के नाम से जाति प्रमाण जारी किये जा रहे हैं, न कि बरार के नाम से। हमें इस को भी ठीक करना होगा। बरारों को अपना जाति प्रमाण पत्र, 'धानुक' अथवा बसोर (बसोड़) जाति के नाम से बनवाने को मजबूर होना पड़ता है। मेरा जाति प्रमाण पत्र भी 'बसोर' जाति के नाम से ही बना था। अब मेरे परिवार तथा रिश्तेदार, 'धानुक' जाति के नाम से जाति प्रमाण पत्र बनवाने लगे हैं जो कि अनुसूचित जाति के अन्तर्गत अधिकांश राज्यों में मान्य है।

अब सवाल यह उठता है कि बरारों को बरार जाति के नाम से 'जाति प्रमाण', पत्र क्यों निर्गत नहीं किया जाता है? इस का एक उत्तर यह भी है कि बरार जाति के लोग किसी अन्यत्र प्रान्त या क्षेत्र से इस इलाके में सौ-डेढ़ सौ साल पहले प्रवासी के रूप में आ बसे होंगे। इस सम्बन्ध में हमारे बूढ़े-बुजुर्ग कहते हैं कि 'बरार' शब्द स्थानवाची है, जाति वाचक नहीं है। इसी तरह से कुछ विद्वान, 'धानुक' को भी जाति वाचक न मानकर विशेषण के रूप में स्वीकार करते हैं। जो धनुष-बाण चलाने में पारंगत थे उन के वंशजों को 'धानुक' विशेषण दिया गया, पर बाद में धानुक शब्द, जाति वाचक संज्ञा बन गया। इसी तरह सौ-डेढ़ सौ साल में बरार भी स्थानवाची के स्थान पर जाति वाचक संज्ञा में बदल गया। पंजाब प्रान्त के सिखों में भी 'बरार' टाइटिल मिलता है लेकिन पंजाबी 'बरार' सामान्य श्रेणी में आते हैं। यह जाटों का एक गोत्र है। पंजाबी लोग बरार को अंग्रेजी में BRAR तथा हिन्दी में ब्रार, बराड़ भी लिखा और बोला करते हैं।

मध्यकालीन इतिहास में बरार प्रान्त का उल्लेख मिलता ही है, इसलिए ऐसी प्रबल संभावना है कि जब बरार प्रान्त (रियासत) के राजा को परास्त किया गया होगा, तब वहाँ से लोगों का अन्य रियासतों में पलायन हुआ होगा। इस का उल्लेख मैं बरार राज्य के संक्षिप्त इतिहास में कर ही चुका हूं। चूंकि यहाँ बरार पहले थे ही नहीं, इसलिए बाहर से आये बरार प्रान्त के बरारों ने दलितों में से अपने समकक्ष जाति के साथ अपनी पहचान जोड़ कर रिश्ता बना लिया होगा। बरारों को अपने पेशे से मिलती-जुलती पेशेवर जातियों में 'बसोर' सब से नजदीकी लगे होंगे, इसलिए बरारों ने खुद को बसोर जाति के साथ सम्पृक्त कर लिया होगा।

दूसरी संभावना यह है कि मराठा सामंत शिवराव भाऊ जो कि रघुनाथ हरि-नेवालकर के वंशज थे, अपना कोंकण क्षेत्र छोड़ कर झाँसी आ गये थे जिस का उल्लेख मैं पहले कर ही चुका हूं। रघुनाथ हरि नेवालकर ने जब झाँसी में अपना साम्राज्य मजबूत किया तब कोंकण क्षेत्र से उन्होंने अपने सेवादारों को झाँसी रियासत में बसा लिया होगा। उस समय के राजे-महराजे अपने सेवादारों को अपने साथ ले जाते रहे हैं। इन में सैनिक, सेवादार तथा उन के दास-दासी शामिल रहते थे। इस दृष्टि से यह प्रबल संभावना है कि कोंकण क्षेत्र से कुछ महारों को झाँसी रियासत में अपने विश्वस्त सेवादारों, तुरही बजाने वालों, सेना से जुड़े लोगों को तथा अन्य कार्यों से जुड़े लोगों को झाँसी में बसाया गया होगा। कोंकण में महारों के परिवारों में बाँस की टोकरी आदि बनाने का कार्य पारंपरिक रूप से होता रहा है। इस का उल्लेख प्रख्यात मराठी दलित लेखिका उर्मिला पवार ने अपनी आत्मकथा 'आयदान' में किया है। बुन्देलखंड क्षेत्र में पारम्परिक रूप से बसोर जाति के लोग भी बाँस के शिल्प से जुड़े थे, इसलिए कोंकण के महारों ने खुद को 'बसोर जाति' के साथ जातिगत पेशे के आधार पर जोड़ लिया होगा। हम सभी यह जानते हैं कि कोंकण के रत्नगिरि क्षेत्र से हमारे बाबा साहेब डा. भीमराव अम्बेडकर भी आते हैं। महारों का एक गोत्र या उपनाम 'बंसोड़' भी है जो बुन्देलखंड की बसोर जाति से काफी मिलता-जुलता है। इसलिए कोंकण से आये महारों को बुन्देलखंड के बसोरों के साथ जुड़ने में अधिक लगाव महसूस हुआ होगा। बाबा साहेब ने यह कहा भी है कि हमारे लोग, छितराए समूह के रूप में देश के अनेक भागों में अपनी जीविका के लिए जा बसे हैं।

इस सम्बन्ध में एक रोचक बात यह भी है कि बरार जाति के लोगों को यदि 'बसोर' कहा जाता है तो उन्हें यह बहुत ही अपमानजनक तथा हेय लगता है, जब कि हमारे लोग 'बरार' कहना-लिखना बहुत सम्मानजनक और अच्छा मानते हैं। राजनीतिक तिकड़म ना भिड़ा पाने के कारण बरारों को अपना जाति प्रमाणपत्र ''बसोर'' जाति के नाम से ही बनावने को विवश होना पड़ता है। मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश सरकारों को चाहिए कि बरार जाति को अनुसूचित जाति की सूची में शामिल कर इस जाति की अस्मिता को पृथक से स्वीकार करें। इतिहासकारों ने मार्शल रेस के रूप में महारों, दुसाधों, पासियों और धानुकों को एकमत से स्वीकार किया है। इसलिए यह तीनों ही जातियाँ आयुधजीवी रही हैं।

सामाजिक स्तर पर महार, पासी, धरिकार, दुसाध और धानुक जाति के लोग एक दूसरे को अपनी ही नजदीकी उपजाति का मानते आये हैं। यह भी एक बड़ी सच्चाई है कि दतिया तथा झाँसी के आसपास के इलाके में बसे बरार जाति के लोगों को यदि कोई 'बसोर' कहता है तो इस का वे पुरजोर विरोध करते हैं। इन जिलों में इस समय 'बसोर' जाति के नाम से किसी भी तरह का कोई भी सामाजिक या जातीय संगठन नहीं मिलेगा। मध्य प्रदेश के टीकमगढ़, छतरपुर, पन्ना, रीवा और शिवपुरी तथा उत्तर प्रदेश के हमीरपुर, महोबा, चित्रकूट और बाँदा जिलों में बरार जाति के लोग नहीं मिलेंगे। इन जिलों में 'बसोर' जाति के लोग ही मिलेंगे। इन्हें खुद को 'बसोर' कहे जाने पर किसी तरह का ऐतराज नहीं है। बसोर शब्द को इन जिलों में समाज द्वारा सर्वस्वीकृति मिली हुई है। बसोर जाति के नाम पर इन जिलों में अनेक सामाजिक संगठन इस समय सक्रिय हैं। इन जिलों में बसोर जाति के अधिकांश लोग सफाई कर्मी का भी पारंपरिक पेशा करते आये हैं, जब कि बरार जाति ने सफाई का पेशा कभी नहीं अपनाया है। बरार और बसोरों में सूअर पालन और झाड़ू लगाने को ले कर हमेशा से ही बड़ा सामाजिक विवादास्पद मुद्दा बना हुआ है। इन उपजातियों के एकीकरण में यह दोनों ही कार्य, आज भी बड़ी बाधा बने हुए हैं। यदि बसोर जाति के लोग, सूअर पालन और झाड़ू लगाने का कार्य बंद कर देते हैं, तो इन दोनों उपजातियों को एक होने से कोई नहीं रोक सकता है।

मैं भी इन के एकीकरण के लिए लगातार प्रयासरत हूं। ये हमारे ही जाति भाई हैं, पर इन्हें पारंपरिक मलिन पेशा से खुद को मुक्त होना ही पड़ेगा। हमें विश्वास है कि एक दिन ऐसा अवश्य हो कर के रहेगा। हाँ, यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि मैं जाति विनाश के पक्ष में हूं और हमारा संविधान भी जातिविहीन समाज निर्माण की बात करता है, पर जब तक जातियाँ जिंदा हैं, तब तक उन को सही सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही जानना-समझना होगा। हमें अपनी ऐतिहासिक भूलों को सुधारने में कोई गुरेज नहीं करना चाहिए। हमें दलितों के इतिहास का पुर्नलेखन करना ही होगा, अन्यथा हमारी सही पहचान कभी नहीं बन पायेगी। यह इतिहास भी हम को ही लिखना होगा।

प्रो. कालीचरण 'स्नेही'
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष,
हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
मो. नं. 9415548256

कविताएं आजीवक चिंतन-शैली की

—प्रो. राजेन्द्र बड़गूजर

वर्तमान समय में दलित कविताएं रोने-पीटने, शोषण का राग अलापने और 'हाय-हाय' की अभिव्यक्ति से बाहर निकल कर स्वतन्त्र चिंतन और दलित समस्या के समाधान की ओर अग्रसर हो रही हैं। डा. धर्मवीर के 'दलित चिंतन की स्वतन्त्रता' का प्रसार दलित कविता में विस्तार पाता जा रहा है। एक तरफ दलित कवि अपने भयानक अतीत को उजागर कर रहा है तो दूसरी तरफ उस का समाधान भी खोज रहा है। श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताओं का अध्ययन करते समय एक बात तो निश्चित और साफ तौर पर कही जा सकती है कि वे एक बड़े पद पर पहुंचने और आर्थिक समृद्धि के बावजूद अपनी जड़ों और जमीन को भूले नहीं हैं। उन की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' का सौराज अभी भी उन के मन-मस्तिष्क में शत-प्रतिशत मौजूदगी के साथ विद्यमान है। जब वे जहाज में बैठ कर विदेश में कहीं आदमिक यात्रा पर जाते हैं, या भारत में किसी मनोरम स्थल का भ्रमण कर रहे होते हैं या किसी विमर्श में बहस कर रहे होते हैं, तो वे भारत के दलितों, उत्पीड़ितों और सदियों से सताये लोगों का प्रतिनिधित्व कर रहे होते हैं। उन की आर्थिक समृद्धि की जद्दोजहद और पूर्वपीठिका हमेशा उन के साथ चलती है। उन्हें जहाज में बैठ कर वही रोमांच होता है जैसे बचपन में अपने शिक्षक प्रेमपाल की साईकिल पर बैठ कर भविष्य की कशमकश का होता था। कवि लंदन में जहाज में उड़ता हुआ अपने अतीत की बदहाली को भूलता नहीं है। वह जहाज की यात्राओं में व्यवस्था जनित ज्यादतियों का अवशेष है। लंदन जा कर उस का तर्क इस रूप में खौल उठता है :

गोरों की कुल संख्या/दलितों से कमतर है
हालत, पर दलितों की/बद से बदतर है।

भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था में सत्ता से जुड़े अल्पसंख्यक आबादी के लोग बहुसंख्यक आबादी पर अपनी गैर बराबरी की व्यवस्थाएं थोप रहे हैं। यह विडम्बना ही है। कवि हतप्रभ है कि भारत के दलितों से भी कम जनसंख्या वाले देश ने हजारों किलोमीटर दूर आ कर भारत को गुलाम बना लिया। कवि क्रूर व्यवस्था से बचता-बचाता और सिकुड़ता-सिमटता अपने अस्तित्व को खूनी खंजरों से चकमा देता, आज सफलता के उस मुकाम पर पहुंच गया है कि वह दुनिया में फैली हुई शोषण की मानसिकता को देख सकता है। वह पूरी दुनिया में मानवीय शोषणों के भारतीय

परिप्रेक्ष्य को भली-भांति महसूस कर सकता है। विदेश यात्राओं में समर्थ श्यौराज सिंह के साथ हर प्रकार से उपेक्षित सौराज उन के साथ रहता है। जाति की क्रूरता का तर्क बेचैन के व्यक्तित्व का अंग बन गया है :

जहन में अपना ही देश/देश के वासिंदों में जात
अछूतों का दिल सहता दर्द/गुलामी से बदतर
हालात/ आज उन की आँखों में अश्रु/असंभव
कैसे संभव आज/क्रूरता है जिन का
किरदार/विषमतावादी वर्ण समाज।

कवि का तर्क विदेशों में जा कर विस्तार पाता है। जब वह देखता है कि विदेशों में विभिन्न कामों से जुड़े हुए लोगों और उन के कामों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। उन की यह दृष्टि कामगारों और उन के कामों को देश की तरक्की से जोड़ देती है जबकि भारत में कुटिल संस्कृति के प्रस्तोता यहाँ के मूल निवासियों को दोयम दर्जे का बना रख छोड़ते हैं। बतौर डा. धर्मवीर इंग्लैड से आ कर भारत की धरती पर कब्जा करने वाले अंग्रेज पेशे से मछुआरे ही थे। काम की दृष्टि से वे भारत के अछूतों के ही समकक्ष थे। परन्तु उन का मोरल हाई था। उन के देश के लोग उन के काम को सम्मान देते थे। अचंभा कविता में डा. बेचैन भारत के दलितों की प्रतिभा के विनाश का आकलन करते हैं—

क्या हम कभी/जन्म भेद से होने वाली
देश की क्षति का आकलन करते हैं/हिसाब
लगाते हैं?

डा. बेचैन को नागासाकी में गिराये गये बमों और दलितों की झुग्गी जलाये जाने में भी कोई फर्क नहीं दिखायी देता। दोनों के प्रभाव एक जैसे दिखायी देते हैं। नागासाकी में आज तक असामान्य बच्चे पैदा हो रहे हैं। इसी प्रकार, भारत की झुग्गियों में, दलित बस्तियों में बच्चे दब्बू, हताश, निराश पैदा हो रहे हैं। कवि की यह तार्किक दृष्टि दर्शनीय है :

झुग्गियों में आग लगाकर/नए आवास देने के वायदे
वोट माँगने वालों में और/नागासाकी के बमवर्षकों में
अंतर कहाँ है।

भारत के सवर्ण दलितों से इंग्लैण्ड और अमेरिका के समान पेश आते है। क्यों न आएं, मंशा शासक और श्रेष्ठ विदेशी होने की है। उच्चवर्ण के लोगों ने सुनियोजित रूप से एक ऐसी संस्कृति विकसित की है कि सदियों तक केवल उन के वंशजों का वर्चस्व कायम रहे। उन्होंने भारत के आजीवकों को भी शूद्र-अतिशूद्र के रूप में उस में शामिल कर लिया है। धर्म, अर्थ, ज्ञान और आजादी से उसे पंगु बना डाला है। उसे अपने ही देश में गुलाम बना दिया गया। इस का खमियाजा उसे इस रूप में भुगतना पड़ा कि जब अंग्रेज भारत में आए तो भारत के दलित उन के विरोध में खड़े ही न हो सके :

कानों में शीशा पड़ा था/जुबानें काट दी गई थीं
और वे अपने ही घरों में/कैद कर लिये गये थे
धर्मशास्त्रों और ऋचाओं/ व्यवस्थाओं के अनुसार।।

अंग्रेजों से आजादी भारत के विभिन्न धर्मों, जातियों, वर्णों के लिए अलग मायने रखती थी। भारत का उच्च वर्ण केवल अपने धर्म की श्रेष्ठता को कायम रखने के लिए आजादी चाहता था। वह दलितों की सामान्य गुलामी को बरकरार रखते हुए अंग्रेज से आजादी चाहता था। इस के लिए वह उन से भावनात्मक ब्लैकमेलिंग करता था :

सब्र कर, जल्दी क्या है?/तेरे हिस्से की आजादी
सुरक्षित है, हमारे पास यहीं रहेगी/जानी कहाँ है?

आजादी के इतने वर्षों बाद दलितों के हर क्षेत्र में पिछड़े होने से यह सिद्ध भी हो चुका है। स्कूलों से उन्हें खदेड़ा जा रहा है, उनकी बस्तियाँ जलाई जा रही हैं, संवैधानिक प्रतिनिधित्व को खत्म करने के उपाय गढ़े जा रहे हैं और उन की बहू-बेटियों को उन की जार दृष्टि रौंद डाल रही है। कवि की कविता 'तुम भी नीच हम भी नीच' में इस संस्कृति के दोगलेपन को उघाड़ा गया है। यह दंभ तो भरती है विश्वगुरु होने का परन्तु अपने ही पड़ोसी को अज्ञानी रखती है। इस हिसाब से यह दुनिया की सब से असभ्य संस्कृति है :

तुम भए नीच/ज्ञानरोधक बन
जिम्मा तो लिया/विश्वगुरु बनने का और
निरक्षरता से भर दिया देश भी/बहुसंख्यक भारत
तुमने बनने नहीं दिया समर्थ/और यूं तुम्हारा
सभ्य होना हो गया व्यर्थ।

इस संस्कृति के बिजबिजाते संस्कारों को कवि पहचान चुका है। उस में कहीं भी भ्रातृभाव और समभाव नहीं है। उन का दलितों के प्रति छद्म आचरण दलितों की दो ढाई हजार साल की बौद्धिकता के आगे शत-प्रतिशत स्पष्ट हो चुका है। इक्कीसवीं सदी के दलित बुद्धिजीवियों में मक्खलि गोसाल, सद्गुरु कबीर, रैदास, बाबा साहेब डा. अम्बेडकर की जिजीविषा हिलोरे ले रही है।

डा. धर्मवीर ने बहुत ही स्पष्ट ढंग से आजीवक की महान स्वाभिमानी परम्परा से उसे जोड़ दिया है। डॉ. धर्मवीर ने हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, इसाई, बौद्ध और जैन धर्म के समकक्ष उस की पूर्ण सांस्कृतिक विरासत से परिचित करा दिया है। आजीवक कवि के तर्क की प्राण शक्ति अब मुखरता ग्रहण करती जा रही है :

मरे हुए पशु-सा तुम्हारा साहित्य/गटर से भी
ज्यादा सड़े तुम्हारे/ विचार मेरे कंधों पर
लदकर कहाँ तक जायेगा?/तुम्हारा सड़ियल संसार।

बीती सदी में दलितों ने अपने गौरवमयी इतिहास को खंगाल डाला और उसे अपनी बदहाली के कारणों में स्पष्ट व्यवस्था नजर आने लगी। बदहाली के कारणों की जाँच करते-करते वे अपने स्वतंत्र धर्म आजीवक तक पहुंचे और गोसाल, कबीर, रैदास, डा. अम्बेडकर, कांशीराम और डा. धर्मवीर के रूप में अपने स्वतंत्र चिंतन से कृतकृत हो रहा है। उन का स्वतंत्र चिंतन उन्हें नीच बने रहने की सीख नहीं देता। वे आजीवक हैं, खुद्दार हैं और कमा कर खाने की जीवन शैली से सराबोर है। उन्हें दूसरों के धर्मों में जाने की आवश्यकता नहीं है। उन के पूर्वज उन्हें रास्ता दे गये हैं। वर्ण-व्यवस्था में विभिन्न वर्णों की धार्मिक लड़ाई में दलित किसी भी वर्ण द्वारा पोषित धर्म को क्यूं अपनाएं? यह उस की मौलिकता पर बट्टा लगना है, जब कि उस के पास अपना धर्म है। विशेषकर बौद्ध धर्म के परिप्रेक्ष्य में उस का स्वाभिमान जाग उठा है :

पर मैं, बुद्धम् शरणम् गच्छामि नहीं कह पा रहा
हूं/धर्म ब्राह्मण का हो या क्षत्रियों का/ उन की
अस्पृश्य व्यवस्था...

जिस प्रकार की परिस्थितियाँ बनती जा रही हैं। उन्हें देख कर कवि का डर मूर्त रूप लेने को आतुर है। दलित अपनी अस्मिताओं को विलीन करने लगे हैं। उन्हें लोक लुभावने आकर्षक नारों के पीछे छुपे खूनी दाँत महसूस नहीं हो रहे। इस का उन्हें उस समय पता चलेगा जब उन की पीढ़ियाँ नप जायेंगी। शायद वे अपने भोलेपन के परिणाम को देख भी न पाएं। कवि की भावी पीढ़ियों की दुर्दशा का डर सताने लगा है :

दुनिया में आते दुख दालित्य का/घटाटोप अंधेरा
घेर लेगा/सूरज उन के लिए एक भी किरण
देने से बचेगा

तय है कि भविष्य में आजीवक समाज को संघर्ष के रास्ते से गुजरना पड़ेगा। उस के प्रति हजारों सालों से बना हुआ प्रतिकूल माहौल उस से नैसर्गिकतायें छीन रहा है और भविष्य में उस की क्रूरता और बढ़ने वाली है। कवि का इस को पूरा आभास है :

वर्ण व्यवस्था में बचपन/किस बच्चे को मिलेगा
बचपन का हक किस-किससे छीना जायेगा/मुझे डर
मेरे भूखे हताश/दिशाहीन कौम के बहिष्कृत बच्चे
बहका-भटका दिये जायेंगे/जिन्हें खिलौने नहीं मिले/
वे कहीं बंदूकों से न खेलने लगें।

'द्वन्द्व' कविता में कवि ने इस दुर्गति से बचने का रास्ता भी समझाया है और वह है 'मेल-जोल'। तमाम आजीवक अपनी धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान को कायम करते हुए अपने बीच के झगड़ों को खत्म करें–

मेरी बात गाँठ बाँध लो/यही एक मंत्र तुम्हारा
मेल-जोल/तुम्हारी विरासत की पीढ़ियों की/
जीत का सबब बन जायेगा।

कविता 'दरियागंज में' कवि सवर्ण और दलित के बीच अंतरजातीय विवाह के मुहावरे की पोल खोलते हैं। विशेषकर, दलित के संदर्भ में तो अंतरजातीय विवाह कौम की अपूर्णीय क्षति के रूप में सामने आता है। बतौर डॉ. धर्मवीर आरक्षण की मार्फत पढ़-लिखकर बड़े-बड़े ओहदों पर पहुंचने वाली दलित लड़कियाँ उच्च वर्ण के पुरुषों से शादी कर अपने साधनहीन समाज को समृद्ध बनाने की बजाए दूसरे समाज को सम्पन्न बनाती हैं। ऐसे में, बाबा साहेब द्वारा दलितों को दिलाये गये आरक्षण का लाभ दलित कौम को मिलने की बजाए उच्च वर्ण के लोगों को मिल जाता है। इसी लाभ के लिए उच्च वर्ण पुरुष सक्षम दलित लड़कियों को अपने प्रेमपाश में फाँस लेता है। कवि की दूरदर्शिता दर्शनीय है–

और जो लड़कियाँ/गैर दलितों में ही ब्याह कर जाती
हैं/वो केवल कमा कर खिलाती हैं/दहेज नहीं ले
जाती हैं/दलित कौम का भविष्य ही उठा ले जाती
हैं/दलित-क्रीम जाती है/गैर-दलित कूड़ा आता है/गुड़
से गोबर का आदान-प्रदान हो जाता है।

श्यौराज सिंह बेचैन आजीवक कविता के एक अति महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं जिन में आजीवक इतिहास जीवन शैली, दुर्धर्ष जिजीविषा और संघर्ष का माद्दा अनायास ही आकार ग्रहण करता आ गया है। उन की छंद-मुक्त कविता स्वतंत्र भाव और विचार की लय लिए हुए है। बेचैन की कवितायें शैलीगत विद्रोह की कवितायें हैं। उन की चेतना कविता की बंधी-बंधायी शैली के आवरण को तोड़ कर चलती है। उस ने एक नयी कहनी आरंभ की है। उस में मक्खलि गोसाल, कबीर, रैदास और डा. अंबेडकर का मान है। वह समभाव चाहती है, वह दालित्य के लिए जिम्मेदार दार्शनिक कुचक्र को तहस-नहस करना चाहती है।

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय
मोतिहारी, बिहार

हिन्दू कोड बिल के विरोध में कुछ आर्य महिलाएं

—डा. सुरेश कुमार

जब आजादी अंगड़ाई ले रही थी, उसी समय डा. भीमराव अंबेडकर आधी आबादी के अधिकारों के लिए हिन्दू कोड बिल का प्रारूप सदन में प्रस्तुत कर रहे थे। मोटे तौर पर देखा जाए तो हिन्दू कोड बिल स्त्री अधिकारों का कानूनी घोषणा पत्र था। डा. अंबेडकर के इस कोड बिल का सदन से ले कर बाहर तक पुरजोर विरोध हुआ था। बावजूद इस के, बाबा साहेब हिन्दू कोड बिल को पास कराने के लिए अडिग थे। तब, देखा जाए कि बाबा साहेब के लिए इस का महत्व क्या था। उन्होंने लिखा है—''महत्व की दृष्टि से भारत विधानमंडल द्वारा अतीत में या भविष्य में निर्मित की जानी वाली किसी भी विधि की तुलना इस से (हिंदू कोड) नहीं की जा सकती। वर्गीय और लैंगिक असमानता जो हिंदू समाज का मूलाधार है, को बरकरार रखते हुए केवल आर्थिक मसलों से जुड़े कानून पारित करते जाना हमारे संविधान का मखौल बनाना होगा। यह ऐसा ही है जैसे गोबर के ढेर पर महल की तामीर करना। मैं हिंदू कोड को इसलिए इतना अधिक महत्व देता हूं।'' डा. अंबेडकर ने हिंदू कोड बिल से तत्कालीन नेहरू सरकार के पीछे हटने पर कानून मंत्री पद से इस्तीफा दे दिया था। यह डा. अंबेडकर की जाति के विनाश के विचार के प्रति प्रतिबद्धता का परिचायक था। वे यह मानते थे कि जाति व्यवस्था के विनाश के लिए महिलाओं को पितृसत्ता की गुलामी से मुक्त कराना आवश्यक है। दरअसल, डा. अंबेडकर ने जिस हिंदू कोड बिल का प्रस्ताव किया था, वह सभी जाति की महिलाओं की आजादी के लिए था। इस का तब विरोध न केवल प्रतिगामी सोच के सवर्ण पुरुषों ने किया बल्कि वे महिलाएं भी थीं जो पितृसत्ता को बनाये रखने की पक्षधर थीं।

डा. अंबेडकर द्वारा प्रस्तावित विधेयक में बिना वसीयत किये मृत्यु को प्राप्त हो जाने वाले हिंदू पुरुषों और महिलाओं की संपत्ति के बंटवारे के संबंध में कानूनों को संहिताबद्ध किए जाने का प्रस्ताव था। यह विधेयक मृतक की विधवा, पुत्री और पुत्र को उस की संपत्ति में बराबर का अधिकार देता था। हिंदू कोड बिल दो प्रकार के विवाहों को मान्यता देता था—सांस्कारिक व सिविल। उस में हिंदू पुरुषों द्वारा एक से अधिक महिलाओं से शादी करने पर प्रतिबंध और विवाह के विघटन संबंधी प्रावधान भी थे। किसी भी विवाहित व्यक्ति को विवाह की संविदा समाप्त करने के तीन रास्ते उपलब्ध थे—पहला, विवाह को शून्य घोषित करवाना, दूसरा, विवाह को अवैध घोषित करवाना और तीसरा, विवाह का विघटन। विधेयक में यह प्रावधान भी था कि किसी विवाह को अदालत द्वारा अवैध घोषित कर देने के बाद भी उस से उत्पन्न संतानों की वैधता प्रभावित नहीं होगी। विवाह विच्छेद के लिए सात आधारों का प्रावधान था। 1) परित्याग, 2) धर्मांतरण, 3) रखैल रखना या रखैल बनना, 4) असाध्य मानसिक रोग, 5) असाध्य व संक्रामक कुष्ठरोग, 6) संक्रामक यौन रोग व 7) क्रूरता। अंबेडकर द्वारा हिंदू कोड बिल में जो प्रावधान किये गये उन से दो

बातें स्पष्ट होती हैं। पहली, वे पिछड़ी जातियों के राजनीतिक नेता थे और उन के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। दो, जब उन्होंने हिंदू कोड बिल तैयार किया तब तक उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि वे हिंदू धर्म को त्यागकर बौद्ध धर्म अपनायेंगे। उस के बाद भी उन्होंने कठोर परिश्रम से ऐसे विधेयक का मसविदा तैयार किया, जिस से हिंदू महिलाओं को लाभ होता और उन में से भी ऊंची जातियों और वर्गों की महिलाओं को, जिन के परिवार के सदस्यों के पास संपत्ति होती। डा. अंबेडकर को केवल किसी विशेष वर्ग या जाति की महिलाओं के हितों की चिंता नहीं थी। वे सभी जातियों व वर्गों की महिलाओं के हितों का संरक्षण चाहते थे। इस आधार पर देखें तो हिंदू कोड बिल स्त्री अधिकारों की दावेदारियों का कानूनी घोषणा पत्र था। लेकिन डा. अंबेडकर के इस कोड बिल का सदन से ले कर बाहर तक पुरजोर विरोध किया गया था।

हिंदी नवजागरण काल की चर्चित पत्रिका 'आर्य-महिला' ने भी उन के और उन के हिन्दू कोड बिल के विरोध में विषवमन किया था। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि स्त्री केन्द्रित पत्रिका 'आर्य-महिला' ने हिन्दू कोड बिल का सदन के बाहर सब से तीखा और पुरजोर विरोध किया था। 'आर्य-महिला' पत्रिका 'श्री आर्य महिला हितकारिणी महापरिषद की मुखपत्र थी। इस पत्रिका का उद्देश्य भारतीय स्त्रियों में सांस्कृतिक, साहित्यिक और धार्मिक आदर्श का प्रचार-प्रसार करना था। सन् 1918 में इस पत्रिका का प्रकाशन काशी से हुआ था। इस पत्रिका की पहली संपादिका श्रीमती सुरथा कुमारी देवी थी। इस के बाद पत्रिका की संपादिका श्रीमती नारायणी देवी बनायी गयीं। इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य था कि आर्य महिलाओं को धार्मिक और आदर्शवादी साँचे के अनुसार ढाला जाए। यह पत्रिका गवर्नमेंट और स्टेट के स्कूलों में स्वीकृत भी थी। हिन्दू कोड बिल का निर्माण जिस समय हो रहा था, उस समय इस पत्रिका की प्रधान संपादिका श्रीमती सुंदरी देवी एम. ए. थीं। उन्होंने डा. अंबेडकर और तात्कालिक प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू के खिलाफ हिन्दू कोड बिल मसले पर जम कर मोर्चेबंदी दिखायी। 'आर्य-महिला' पत्रिका का दावा था कि हिन्दू कोड बिल सनातन धर्म और कानून पर सबल आघात है। आजादी के दो वर्ष पूरे होने पर पत्रिका के संपादकीय में इस बात पर चिंता प्रकट की गयी कि भारत भले ही स्वतंत्र है लेकिन इस में सनातन धर्म का अकल्पनीय पतन हो रहा है। सन् 1949 के अगस्त अंक के संपादकीय में संपादिका सुंदरी देवी ने यह दावा किया कि भारतीय स्वतंत्रता के साथ हिन्दू धर्म पर अनेक आक्रमण आरंभ हो गये हैं। इस संपादकीय में हिन्दू कोड बिल को हिन्दू-धर्म पर प्रबल आघात के रूप में देखा गया। हिन्दू कोड बिल के कानूनों के सबल आघात द्वारा एक दिन हिन्दू धर्म का सर्वथा लोप हो जायेगा।

पंडित जवाहर लाल नेहरू भी आर्य महिलाओं के निशाने पर रहे। आर्य-महिला के सितंबर, 1949 के अंक के संपादकीय में भी हिन्दू-कोड बिल का पुरजोर विरोध किया गया। इस संपादकीय में नेहरू का तीखा विरोध करते हुए कहा गया कि नेहरू सरकार हठ त्याग कर हिन्दू कोड बिल को वापिस ले ले। इसलिए कि इस बिल से सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक जीवन में उथल-पुथल मच जायेगा। संपादिका का कहना था कि पंडित जवाहर लाल नेहरू भारतीय जनता को धोखे में डाल कर इस बिल को पारित करने का कुचक्र न करें। ये चेतावनी भी दी गयी कि हिंदूओं के सनातन धर्म का नाश करने वाला शासन लंबे समय तक टिक नहीं सकता है। इस संपादकीय में नेहरू का उदाहरण दे कर बताया गया कि बौद्धों ने सनातन धर्म का नाश करना चाहा तो उसे कुमारिल भट्ट ने इस भूमि से निष्कासित कर दिया और बौद्धों को चीन-जापान में शरण लेनी पड़ी। 'आर्य-महिला' पत्रिका नेहरू सरकार पर इस बिल को वापिस लेने का प्रबल दबाव बना रही थी। 'आर्य-महिला' की संपादिका का कहना था कि यह बिल हिन्दू जनता के मानस के विरुद्ध है। यदि नेहरू सरकार इस बिल को वापस नहीं लेती है तो उस के भयंकर परिणाम होंगे। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने 28 नवंबर को हिन्दू कोड बिल को ले कर अपने भाषण में कहा था कि यदि यह बिल पास नहीं हुआ तो उन की सरकार पद त्याग करेगी। नेहरू के इस वक्तव्य से आर्य-महिला की संपदिका सुंदरी देवी बेहद खफा दिखीं। उन्होंने दिसंबर 1949 के अपने संपादकीय में नेहरू की आलोचना करते हुए लिखा कि पद त्याग के पिस्तौल से नेहरू ने बाजी जीत ली है। बिल का समर्थन करने वाले सदस्यों ने केवल अपना व्यक्तिगत मत दिया है। इस बिल का समर्थन कर उन्होंने करोड़ों देशवाशियों के साथ विश्वासघात किया है। नेहरू जी अपनी व्यक्तिगत लोक-प्रियता तथा अपनी सरकार की सारी शक्ति लगा कर हिन्दू कोड बिल पास करने पर तुले हुए हैं, जैसा कि उन के तारीख 28 नवम्बर के संघधारा सभा में दिये हुए वक्तव्य से स्पष्ट होता है। इस समय वे अपने हितैषियों की सलाह सुनने को भी तैयार नहीं है, परन्तु जब हिन्दू कोड बिल कानून बन कर हिन्दू जनता पर लागू हो जायेगा और उस का जो भयंकर परिणाम होगा, उस का सारा उत्तर दायित्व नेहरू जी और उन की सरकार पर होगा।' आर्य-महिला की संपादिका हिन्दू संस्कृति की दुहाई दे कर बिल वापस लेने का दबाव बना रही थी।

'आर्य-महिला' पत्रिका की संपादिका ने हिन्दू कोड

बिल के खिलाफ एक अभियान शुरू किये हुए थी। जब से यह बिल लोक सभा में आया था, तब से इस पत्रिका ने इस बिल को सनातन धर्म का विरोधी बता कर इस के विरुद्ध अभियान छेड़ रखा था। इस के लिए नेहरू सरकार की धर्म निरपेक्षता की नीतियों को जिम्मेदार ठहराया गया। आर्य-महिला के फरवरी-मार्च 1950 के अंक में 'सरकार धर्म निरपेक्षता वापस ले या हिन्दू कोड बिल वापस ले' शीर्षक से संपादकीय लिखा गया। इस में कहा गया कि कांग्रेस सरकार ने सत्ता में आते ही अपने आप को सेकुलर घोषित किया है तो फिर वह सेकुलर राज्य में हिन्दू कोड बिल जैसा धर्मघाती बिल सत्ता के बल पर हिंदुओं के ऊपर क्यों थोपना चाहती है? संपादकीय में नेहरू सरकार का घेराव करते हुए इस बात पर बल दिया गया कि सेकुलर राज्य को किसी जाति के धर्म कानून में बदलाव करने का नैतिक आधार नहीं है। यदि सरकार किसी जाति के धर्म कानून में हस्तक्षेप करती है तो फिर सेकुलर होने का स्वांग क्यों करती है? सेकुलर सरकार केवल हिंदुओं के लिए हिन्दू कोड बिल कैसे बना सकती है? इस तरह के सवाल दागने के बाद सुंदरी देवी ने अपने संपादकीय में नेहरू सरकार को सुझाव भी दे डाला कि सरकार के लिए वैधानिक और शोभनीय रास्ता एक ही बचा है, वह यह है कि वह हिन्दू कोड बिल वापल ले या फिर धर्म निरपेक्षता की नीति वापल ले। 'आर्य-महिला' ने पंडित जवहार लाल नेहरू पर विदेशी शिक्षा का प्रभाव होने का आरोप भी लगाया था। अपने जुलाई, 1951 के अंक में 'अपने मस्तिष्क की खिड़की खोलें' शीर्षक से संपादकीय लिखा गया।। इस संपादकीय में इस बात का दावा किया गया कि नेहरू पश्चिमी महिलाओं के आदर्श से ओतप्रोत हैं, वह हिन्दू महिलाओं की पवित्र भावनाओं को समझ ही नहीं सकते हैं। भारतीय हिन्दू स्त्रियाँ जिन्हें अपने आदर्श और संस्कृति पर अभिमान है, वे कभी हिन्दू कोड बिल को स्वीकार नहीं करेंगी। इस बिल के सूत्रपात होने के समय से ही हिन्दू महिलाओं ने इस का विरोध किया है पर नेहरू जी इस बिल को पारित करवाने पर तुले हुए हैं।

इस में कोई दो राय नहीं थी कि हिन्दू कोड बिल महिलाओं के कानूनी अधिकारों को सबल बनाने वाला बिल था, पर इस का विरोध हिन्दू महिलाओं की ओर से किया जा रहा था। कुमारी पार्वती अग्रवाल प्रभाकर ने इस पत्रिका के सितंबर 1949 के अंक में 'तलाक और हिन्दू समाज' शीर्षक से एक लेख लिखा था। इस लेख में उन्होंने कहा कि इस बिल के मुख्यता दो पक्ष पुरुष और नारी हैं। समाज का कर्ता-धर्ता पुरुष होता है। वह नारी की अपेक्षा अधिक विलासी प्रवृत्ति का होता है। यह तलाक बिल पुरुषों की इसी मनोकामना की पूर्ति करता है। इस बिल के पास होने से पुरुष अपनी स्त्रियों को तलाक देना आरंभ कर देंगे। लेखिका ने इस के बाद इस बात का दावा किया कि इस बिल के पास हो जाने पर समाज मर्यादाहीन हो जायेगा। पुरुष विलासिता के अंधकूप में गिरेगा ही और स्त्री को ले डूबेगा। इस लेखिका का सुझाव था कि तलाक बिल के अतिरिक्त कोई ऐसा बिल बने जिस में भारत के स्त्री-पुरुष एक पतिव्रता और एक पत्नीव्रत बन सके तो उस का स्वागत करूंगी। हिन्दू महिलाओं की ओर से इस बिल को वैदिक संस्कृति को मिटाने वाला बताया जा रहा था। बड़ी दिलचस्प बात है कि हिन्दू स्त्रियाँ जिस वैदिक संस्कृति की बात कर रही थीं, उसी ने उन के प्रगति के द्वार बंद कर दिये थे। आर्य-महिला के फरवरी-मार्च 1950 के अंक में श्रीमती निर्मला देवी श्रीवास्तव का 'हिन्दू संस्कृति और हिन्दू कोड बिल' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ। लेखिका की ओर से इस लेख में हिन्दू कोड बिल को वैदिक संस्कृति की मर्यादा के प्रतिकूल सिद्ध किया गया। इस लेखिका का मत था कि 'वैदिक संस्कृति की मर्यादा को मिटाने वाले इस बिल ने महिलाओं को घर से बाहर निकलने के लिए बाध्य कर दिया है।... ऐसे आदर्शवादी देश में यह हिन्दू कोड बिल शोभा नहीं देता, जहाँ एक पति पर ही सर्वत्र जीवन निछावर कर देना कमनीयता एंवम् भारतीयता की जाग्रत विभूति है।' स्त्री अधिकारों की प्रबल पैरोकारी करने वाले इस बिल को श्रीमती निर्मला देवी ने स्त्रियों के लिए घातक कानून बता डाला था। इस लेखिका ने नेहरू जी को चेतावनी देते हुए कहा कि तलाक बिल पास कर हिंदुओं की सभ्यता और संस्कृति पर कुठारा घात करने का प्रयास न करें। श्रीमती निर्मला देवी का विचार था कि हिन्दू स्त्री-पुरुष के लिए राम-सीता का आदर्श ही कल्याणकारी है। यह लिखने के बाद निर्मला देवी ने हिंदुओं से कहा कि इस बिल का प्रचंड विरोध करना चाहिए ताकि यह हिन्दू कोड बिल कभी सदन में पारित न हो सके।

एक अन्य महिला श्रीमती विद्या देवी ने हिन्दू कोड बिल का मुखर विरोध किया था। विद्या देवी श्री आर्य महिला हितकारिणी महापरिषद की संचालिका और अखिल भारतीय महिला संघ की अध्यक्ष थीं। डा. अंबेडकर ने अप्रैल 1950 में हिन्दू कोड बिल तलाक, संपत्ति का अधिकार, स्त्री संपत्ति और एकपत्नी विवाह पर एक कान्फ्रेंस आयोजित किया था। डा. अंबेडकर ने इस कान्फ्रेंस में श्रीमती विद्या देवी को भी अपना मत रखने के लिए आमंत्रित किया था। इस की विस्तृत रिपोर्ट आर्य-महिला जून, 1950 के अंक में छपी थी। श्रीमती विद्या देवी ने इस कान्फ्रेंस में हिन्दू कोड बिल का घोर विरोध किया था। उन्होंने पहले तो वैदिक संस्कृति का बड़ा गुणगान किया फिर कहा भारतीय स्त्री के पति के आदर्श राम हैं। हिन्दू

स्त्रियाँ धर्म-शास्त्र का त्याग कर के इंद्रिय सुख की कामना नहीं रखती हैं। इसलिए हिन्दू कोड बिल को तत्काल वापस लिया जाए। आर्य-महिला, सितंबर 1951 के अंक में श्रीमती विद्या देवी ने हिन्दू कोड बिल के विरोध में 'हिन्दू कोड बिल से हिन्दू महिलाओं का सर्वनाश' शीर्षक से लेख लिखा था। लेखिका की ओर से इस लेख में दावा किया गया कि हिन्दू कोड बिल लागू होने से आर्य नारियों का सदियों से संचित सतीत्व नष्ट हो जायेगा। वे लोक-परलोक कहीं की नहीं रहेंगी। श्रीमती विद्या देवी का मत था कि शासन सत्ता को केवल जनता की आज्ञाओं का पालन करना होता है। उसे हिन्दू कोड जैसे नये शास्त्र के निर्माण का हक नहीं है। श्रीमती विद्या देवी ने अपने लेख के निष्कर्ष में दावा किया कि हिन्दू कोड बिल बनाना सरकार की अनधिकार चेष्टा है। इस बिल के लागू होने से स्त्री जाति का सर्वनाश हो जायेगा। लेकिन श्रीमती विद्या देवी जिन शास्त्रों की दुहाई दे रही थीं, उन्हीं शास्त्रों ने स्त्रियों को अधिकारविहीन बना रखा था। हिन्दू कोड बिल तो स्त्रियों को अधिकार दिलाने की बात कर रहा था। श्रीमती विद्या देवी ने आर्य-महिला पत्रिका के अगस्त 1951 के अंक में 'हिन्दू-कोड बिल हिन्दू नारियों को चुनौती' शीर्षक से एक और लेख लिखा था। इस लेख में उन्होंने हिन्दू महिलाओं से कोड बिल का विरोध करने की अपील की थी। श्रीमती विद्यादेवी ने हिन्दू महिलाओं से अपील करते हुए कहा कि 'हिन्दू नारियों से हमारी प्रार्थना है कि अब प्रमाद-निंदा में सोने का समय नहीं है। अधिक से अधिक संख्या में दिल्ली चलिये और अपने शांतिपूर्ण उग्र प्रदर्शन से हिन्दू कोड बिल पास करना असंभव कर दीजिये। जो उपस्थित नहीं हो सकें वे प्रधान मंत्री के पास तार या पत्र भेज कर अपना विरोध प्रकट करें।'

डा. अंबेडकर को कानून मंत्री के पद से हटाने की माँग आर्य-महिला पत्रिका ने कर रखा था। आर्य-महिला पत्रिका के जून 1950 के अंक में 'यह लोकतन्त्र या नेहरूशाही' शीर्षक से संपादकीय लिखा गया। इस संपादकीय में डा. अंबेडकर को हिन्दू जाति का दवे्षी बताया गया। संपादिका सुंदरी देवी का मत था कि डा. अंबेडकर हिन्दू धर्म के कट्टर विद्रोही हैं। ऐसे हिन्दू द्रोही व्यक्ति के हाथों कानून बनवाना हिन्दू जाति का अपमान करना है। अपने इस संपादकीय में सुंदरी देवी ने डा. अंबेडकर को कानून मंत्री के पद से हटाने की मांग कर डाली थी। डा. अंबेडकर को ले कर इस संपादकीय में लिखा गया, ''डा. अम्बेडकर हिन्दू जाति तथा हिन्दू धर्म के कट्टर द्रोही हैं, यह उन की अब तक की कृतियों से पता चलता है। इस के अलावा, गत मई मास में बुद्ध जयन्ती के उपलक्ष्य में आयोजित दिल्ली की एक सभा में हिन्दू धर्म के सम्बंध में जो उन्होंने विष उगला, उस से भी स्पष्ट है। ऐसे हिंदू धर्म द्रोही को विधान मंत्री बना कर उस के हाथ में केवल हिदूओं के लिए हिन्दू कोड बिल बनाने का अधिकार सौंपना क्या हिन्दू जनता का घोर तिरस्कार एवं अपमान नहीं है? उक्त सभा में जिस तरह हिन्दू धर्म की कुत्सित निंदा डा. अम्बेडकर ने की, उसी प्रकार यदि मुसलमान धर्म की होती, तो क्या उन को विधान मंत्री बना रखने का यही साहस नेहरू सरकार दिखा सकती थी? इस का निर्विवाद सर्वसम्मत उत्तर यही होगा कि नहीं। हिन्दू जनता ने उचित माँग की कि डा. अम्बेडकर को विधान मंत्री पद से पृथक किया जाए, किंतु नेहरू सरकार में इस की कुछ सुनवाई नहीं हुई। यह लोकतन्त्र या नेहरू शाही है?'' आर्य-महिला पत्रिका में डा. अंबेडकर को खूब कोसा गया, यहाँ तक कि उन्हें इस पत्रिका ने हिन्दू द्रोही तक का खिताब दे डाला। आर्य-महिला पत्रिका के अप्रैल-मई 1950 के अंक में 'डाक्टर अंबेडकर अपने सच्चे रंग में' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख में यह दावा किया गया कि डा. अंबेडकर ने हिन्दू जाति और धर्म को ध्वंस करने का अपना लक्ष्य बना लिया है। इसीलिए हिन्दू कोड बिल को पारित करवाने के लिए जी-जान से लगे हुए हैं। इस लेख में यह कहा गया कि हिन्दू धर्म की तीखी आलोचना करने वाले व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह हिंदुओं के लिए कानून बनाने का काम करे। डा. अंबेडकर के संबंध में इस लेख में लिखा गया था कि 'यह निर्विवाद बात है कि विश्व में हिन्दुओं की सी सहिष्णुता अन्य धर्मावलम्बियों में नहीं पायी जाती। उन के धर्म पर अम्बेडकर ने जो घृणित कीचड़ उछाला है, उस पर रोष उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। हिन्दूजन नेहरू-सरकार से यह पूछ सकता है कि हिन्दू धर्म के जाने हुए द्रोही को परम्परागत नियमों और सदाचारों में परिवर्तन करने का भार क्यों दिया गया? हाल ही में अम्बेडकर ने दिल्ली में हिन्दू कोड पर विचार करने के निमित्त एक अनौपचारिक सम्मेलन बुलाया था, जिस में विभिन्न वर्गों के ऐसे ही लोग बुलाये गये थे, जो उन की हाँ में हाँ मिलाने वाले थे। हम नहीं समझते कि, कानून मन्त्री ने विभिन्न दृष्टिकोणों के सामंजस्य के लिये व्यक्तियों को बुलाया था, उस में कितने लोगों ने उसे स्वीकार किया। ऐसे सम्मेलनों से कोई लाभ सम्भव ही नहीं। बात यह है कि अम्बेडकर की विचारधारा अवरुद्ध है और वे घोर विरोध के बावजूद हिन्दू कोड को किसी न किसी प्रकार से पास करने पर तुले हुए हैं।'

नेहरू के पीछे हटने के बाद छलकी थी आर्य महिलाओं की खुशी। आखिर, डा. अंबेडकर और नेहरू सरकार पर हिन्दी लेखक, संपादक, आर्य-महिलाएं, हिन्दू संगठन और राजनेताओं ने चौतरफा दबाव बना कर हिन्दू कोड बिल को पारित होने से पीछे धकेल दिया। 26 सितंबर, 1951

को प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने यह घोषणा कर दी कि समय का अभाव होने से इस पर विचार नहीं होगा। आर्य-महिला की संपादिका ने हिन्दू कोड बिल के पारित न होने की खुशी का इजहार आर्य-महिला, अक्तूबर 1951 के अंक में 'दैवी विजय' शीर्षक से संपादकीय लिख कर किया। इस संपादकीय में हिन्दू कोड बिल को देवता और असुरों का संग्राम बताया गया। असुरों पर देवताओं की विजय की संज्ञा दे डाली गयी। हिन्दू कोड बिल के पारित न होने की खुशी में लिखा गया था कि 'हिन्दू कोड बिल सम्बन्धी संग्राम देवता एवं असुरों का संग्राम था, इस कारण यह तात्कालिक विजय आसुरी सम्पत्ति पर दैवी सम्पति की विजय है। इस का सर्वोपरि श्रेय हिन्दू जाति के सर्वमान्य नेता वीतराग त्याग तपोमूर्ति पूज्यपाद श्री करपात्री जी को है जिन्होंने सर्दी और गर्मी, दिन और रात एक समान कर के भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक सतत पर्यटन कर के प्रगाढ़, मोहनिद्रा में पड़ी हुई हिन्दू जाति को जगा कर इस बिल के विरोध का प्रचंडतम रूप बना दिया। देश के कोने-कोने से सहस्रों नर-नारियों का दल इस बिल के विरोध के लिए दिल्ली पहुंचने लगा और उग्र विरोध तथा प्रदर्शन प्रारम्भ हो गया। पूज्य स्वामी करपात्री जी तथा महिलाओं पर पुलिस द्वारा निष्ठुरता से लाठी प्रहार कराया गया। इस के विरोध में अखिल भारतीय महिला संघ की प्रधान मंत्री लखनऊ की श्रीमती शान्ता देवी वैद्या तथा मद्रास के प्रसिद्ध नेता स्वामी सत्यानन्द जी ने आमरण अनसन प्रारम्भ कर दिया। इतना संगठित एवं जोरदार विरोध देख कर समयाभाव का बहाना बना कर इस समय के लिए हिन्दू कोड बिल स्थगित करने के लिये नेहरू सरकार को विवश होना पड़ा।'

हिन्दू कोड बिल की परियोजना डा. अंबेडकर की सब से महत्वकांक्षी परियोजनाओं में से एक थी। वह इस बिल को लागू करा कर स्त्रियों को सभी अधिकारों से विभूषित करना चाहते थे। डा. अंबेडकर किसी भी समाज की प्रगति और विचारशील होने का पैमाना स्त्रियों की उन्नति से मानते थे। जब हिन्दू कोड बिल सदन में पारित नहीं हुआ तो डा. अंबेडकर ने 27 सितंबर, 1951 को कानून मंत्री पद से त्याग पत्र दे दिया था। 'आर्य-महिला' पत्रिका ने दिसंबर, 1951 के अंक में 'हिन्दू कोड कसौटी पर' शीर्षक से एक संपादकीय लिखा। इस में डा.अंबेडकर का मजाक उड़ाते हुए कहा गया कि डा. अंबेडकर अपने दत्तक पुत्र हिन्दू कोड बिल को बचा नहीं सके। इस के बाद संपादकीय में उन के त्याग पत्र और उन की हार पर भी तंज किया गया। 'हिन्दू कोड संसद में डाक्टर अम्बेडकर अपनी सारी शक्ति लगा कर भी हिन्दू कोड बिल पास कराने में सफल नहीं हो सके, बेचारे की साध पूरी नहीं हो सकी, तब झल्लाकर उन्होंने कानून मन्त्री के पद से त्याग पत्र दे डाला। आशा की थी कि नेहरू जी उन का त्यागपत्र स्वीकार न कर के मनावन करेंगे, परन्तु उन की यह आशा भी पूरी नहीं हुई। नेहरूजी ने उन का त्याग पत्र तत्काल स्वीकृत कर लिया। अब अम्बेडकर महाशय क्या करते? आप ने हिन्दू कोड रूप अपने बच्चे को जिलाने के लिए उस को दिखा कर चुनाव के मैदान में उतर पड़े और वोट की भीख माँगते चले, किन्तु उन को सोलह हजार वोटों से हारना पड़ा। उन की इस हार के साथ-साथ उन का ऐसा राजनीतिक पतन हुआ कि अब उठना असम्भवप्राय है। इतना ही नहीं, इस बिल की बड़ी भारी समर्थिका इन की साथी पश्चिमी वातावरण में विचरने वाली दो महिलाएं श्रीमती रेणुका राय और श्रीमती दुर्गाबाई थीं। श्रीमती रेणुका राय भी बंगाल से पराजित हो गयीं और मद्रास से दुर्गाबाई भी पराजित हुईं। यद्यपि, कांग्रेस ने इन को विजयिनी बनाने के लिये कोई कोर-कसर उठा नहीं रखा होगा।'

बीसवीं सदी में हिन्दू कोड बिल का पारित न होना बड़ी परिघटना थी। स्त्री अधिकारों की पैरोकारी करने वाले इस बिल के खिलाफ आर्य-महिलाओं ने जम कर मोर्चेबंदी की थी। आर्य-महिलाएं जिस हिन्दू संस्कृति की दुहाई दे कर इस का विरोध कर रही थीं, उसी ने मानवीय अधिकारों से उन्हें वंचित करने का काम किया था। आर्य-महिला की इस मुहिम से न जाने कितनी स्त्रियाँ कानूनी अधिकार पाने से वंचित रह गयी थीं। आर्य-महिलाओं ने हिन्दू कोड बिल का विरोध कर के न जाने कितनी स्त्रियों को पराधीन बना दिया था, जब कि हिन्दू कोड बिल स्त्री पराधीनता की बेड़ियों का संघार कर रहा था। देखा जाए तो अब भी उच्च श्रेणी की बहुत सी बुद्धिजीवी स्त्रियाँ डा. अंबेडकर के चिंतन से बहुत अधिक सरोकार और जुड़ाव नहीं महसूस करतीं। वे डा. अंबेडकर को जाति और आरक्षण के आईने में देखती हैं। डा. अंबेडकर हिन्दू नारी के उत्थान के लिए ही हिन्दू कोड बिल की परियोजना ले कर आये थे। इस कोड बिल में स्त्री के संपत्ति के अधिकार से ले कर तलाक तक प्रावधान किया गया था।

Dr. Suresh Kumar
1/2A, B. K. Basenji Marg, Near Kaliji Mandir, New Katra, Prayagraj U.P.
Pin Code-211002
Mob. 8009824098

हिंदी साहित्य में पर्यावरण चिंतन

—डा. आलोक रंजन पांडेय

आइंस्टीन ने कहा था कि दो चीजें असीमित हैं—एक ब्रह्माण्ड और दूसरी मानव की मूर्खता। मानव अपनी इसी मूर्खता के कारण ब्रह्माण्ड में अनेक समस्याएं उत्पन्न कर रहा है जिस में पर्यावरण प्रदूषण सब से अहम है। 'कायं रे मुरखा तै जन्म गुमायो। पर्यावरण का जुड़ाव प्रकृति से है। एक ओर जहाँ संसार के सभी संबंध कुछ पाने की उम्मीद में ही हम से जुड़े रहते हैं, वहाँ हमारा पर्यावरण से ही एक ऐसा संबंध है जो केवल देना जानता है। यदि हम पर्यावरण के प्रति जरा सा भी सचेत रहें तो वह सदैव मानव हित में ही रहेंगी। मनुष्य जब पर्यावरण को हानि पहुंचाने की कोशिश करता है तो वह स्वयं के लिए ही गड्ढा खोदता है। प्रकृति आरंभ से विश्व संस्कृति के मूल में रही है। इसी कारण मानव और प्रकृति का रिश्ता प्राचीन समय से ही अटूट रहा है। हमारे आदि ग्रंथ वेद में वर्णित शांति पाठ उसी प्रकृति-प्रेम को दर्शाता है।

ऊं द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः
पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः
सर्वं शान्तिं, शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि[1]

पर्यावरण से अभिप्राय हवा, पानी, पर्वत, नदी, वन-वनस्पति और पशु-पक्षी आदि के समन्वित रूप से है जो हमारे चिंतन संस्कार में आदि से हैं। पर्यावरण शब्द एवं उस का अर्थ अत्यंत व्यापक है जिस में सारा ब्रह्माण्ड ही समा जाता है। 'परि' अर्थात् हमारे चारों ओर का आवरण अर्थात् ढकना ही 'पर्यावरण' है। प्रकृति के पाँच तत्वों से मिल कर मानव शरीर की रचना हुई है। गोस्वामी तुलसीदास ने इन पाँच तत्वों की व्याख्या करते हुए 'रामचरितमानस' के किष्किंधाकाण्ड

में लिखा है, 'क्षिति जल पावक गगन समीरा, पंच रचित अति अधम सरीरा[2]। ऐसा मानना है कि ब्रह्माण्ड के निर्माण में जितने भी तत्व हैं, वे ही हमारे शरीर के तत्व भी हैं और ब्रह्माण्ड के इन कारकों में विकृति उत्पन्न होती है तो स्वाभाविक रूप से वही विकृति हमारे शरीर में भी उत्पन्न होगी। भारतीय साहित्य और दर्शन स्वयं में सम्पूर्ण रूप से पर्यावरण केन्द्रित रहे हैं। वैदिक काल के अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन सभ्यता में प्रकृति की पूजा होती थी। उस सभ्यता में पृथ्वी को माँ की संज्ञा दी जाती थी और उस के हित में ही कर्तव्यों का पालन होता था। इस का उदाहरण हमें हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के 'कुटज' निबंध में भी मिलता है, ''यह धरती मेरी माता है और मैं इस का पुत्र हूं। इसीलिए, मैं सदैव इस का सम्मान करता हूं और मैं धरती माता के प्रति नतमस्तक हूं।''[3]

भारतीय संस्कृति में वन और वनस्पति का बहुत अधिक महत्व रहा है। हमारे ऋषि-मुनि वनों में ही आश्रम बना कर रहते थे। प्रकृति से उन का गहरा जुड़ाव था। पुरातन युग में वन संन्यासी जीवन के तप का प्रमुख केंद्र हुआ करते थे। अतः यह उल्लेखनीय है कि वेदों, उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों और सूत्र ग्रंथों आदि सभी में सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के भव्य और उज्ज्वल रूप प्रतिनिहित हैं जिन की रचना वनाश्रमों में हुई है। आदि कवि वाल्मीकि को तो काव्य की प्रेरणा ही प्रकृति से मिली थी। इसी तरह कालिदास का सम्पूर्ण काव्य प्रकृति की गोद से ही जन्मा है। हिंदी का रचना संसार भी प्रकृति की छाँव में पला-बढ़ा है।

हिंदी साहित्य पर दर्शन का प्रभाव भी देखा जाता है। दर्शन से प्रभावित होने के कारण हमेशा ही हिंदी साहित्य पर्यावरण के पक्ष में रहा है। हिंदी साहित्य के लगभग सभी साहित्यकारों और विद्वानों ने हमेशा ही पर्यावरण के साथ हो रहे आनाचार का विरोध किया है और पर्यावरण तथा मानव को एक दूसरे का अभिन्न अंग बताया है। उन्होंने हमेशा ही इस बात पर बल दिया है कि प्रकृति और मानव एक दूसरे के पूरक हैं। एक का विनाश दूसरे को भी विनाश की राह पर ही ले जायेगा। यदि हम आदिकालीन हिंदी कवियों के काव्य में प्रकृति वर्णन की बात करें तो रासो-काव्य में यह प्रचुरता से दिखायी देता है। मैथिल कोकिल विद्यापति की रचना तो प्रकृति वर्णन की दृष्टि से अद्वितीय है। विद्यापति के प्रकृति प्रेम को उन के बसंत आगमन के वर्णन में देखा जा सकता है जब वे बसंत के आगमन का स्वागत उसी रूप में करते हैं, जिस तरह एक राजा का किया जाता है :

आएल रितुपति राज बसंत, धाओल
अलिकुल माधवि-पंथ।
दिनकर किरन भेल पौगंड, केसर कुसुम
धएल हेम दंड ।
नृप-आसन नव पीठल पात, कांचन कुसुम
छत्र धरु माथ ।
मौलि रसाल मुकुल भय ताल, समुखहि
कोकिल पंचम गाय।।[4]

भक्तिकालीन कवियों की बात करें तो तुलसी, रहीम, कबीर और मीराबाई आदि सभी ने पर्यावरण को सुरक्षित रखने के लिए अपने साहित्य द्वारा जनसाधारण में जागरूकता फैलायी। महाकवि तुलसीदास के मानस में हमें प्रकृति के साथ-साथ गंगा और सरयू के माध्यम से पर्यावरण का चिन्तन मिलता है तो कविवर रहीम तो पानी के माध्यम से जीवन के तत्व का ज्ञान करा देते हैं :

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरे, मोती, मानुस चून ।।[5]

भक्तिकालीन कवियों की साधना में आध्यात्मिक तन्मयता व एकनिष्ठता का भाव विद्यमान रहा है। इस काल की रचनाओं में प्रकृति का कई स्थलों पर रहस्यात्मक वर्णन हुआ है। कहीं-कहीं वन, उपवन, पर्वत, नदी और पशु-पक्षी का स्वाभाविक व उल्लासमयी भंगिमाओं के साथ वर्णन भी है। भक्तिकाल में शायद ही कोई ऐसे कवि हों जिन के काव्य में पर्यावरण अछूता रहा हो। गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में लक्ष्मण और सीता को वृक्षारोपण करते हुए दिखाया है :

तुलसी तरुवर विविध सुहाए, कहुं-कहुं
सिय, कहुं लखन लगाए।[6]

महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपनी कृति 'पद्मावत' में पर्यावरण वर्णन को पूर्ण प्रश्रय दिया है :

पिउ सौ कहेउ संदेसड़ा, हे भौरा! हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुवाँ हम्ह
लाग।।
रकत ढुरा आँसू गरा, हाड़ भयउ सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहिं पंख।।[7]

इस प्रकार अनेकों उदाहरण हमें प्राचीन एवं मध्यकालीन हिंदी साहित्य में देखने को मिलते हैं जो पर्यावरण सरंक्षण के प्रति मनुष्य में चेतना जागृत करते हैं।

रीतिकाल के कवियों ने जहाँ श्रृंगार को ही अपने लेखन में सब से ज्यादा महत्व दिया, वहीं कुछ कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने प्रतीक को आलंबन रूप में प्रस्तुत कर उसे प्रेम से जोड़ा है। सर्प और मयूर तथा हिरन और बाघ किसलिए (गर्मी से व्याकुल हो कर) एकत्रवास करते हैं

और एक साथ रहते हैं? ग्रीष्म की कठोर गर्मी ने संसार को तपोवन-सा बना दिया। पर्यावरण के माध्यम से ऐसा प्रेम हम बिहारी के इस दोहे में देख सकते हैं :

कहलाने एकत बसत अहि-मयूर मृग-बाघ
जगतु तपोवन सौ कियो दीरघ दाघ निदाध।[8]

बिहारी के प्रकृति-निरीक्षण-नैपुण्य का कैसा उत्कट परिचय मिलता है, इस दोहे के माध्यम से हम देख सकते हैं :

बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन तन माँह
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह।[9]

जहाँ हिंदी साहित्य में आदिकाल से ले कर रीतिकाल तक किसी न किसी रूप में कवियों ने काव्य में पर्यावरण को वर्णित किया है, वहीं आधुनिक काल से छायावादी काव्यों में पर्यावरण के प्रति प्रौढ़ता दिखायी देने लगती है। इस काल के छायावादी कवियों– मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा और हरिवंश राय बच्चन आदि ने अपने काव्य में पर्यावरण का सुन्दर चित्रण किया है। जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी', 'झरना', 'लहर', 'आँसू', 'कानन-कुसुम', 'चन्द्रगुप्त' और 'एक घूंट' आदि में पर्यावरण के सौंदर्यीकरण के साथ उस के महत्व को भी दर्शाया है।

इक्कीसवीं शताब्दी में मानव-जीवन के सरोकारों में यदि सब से बड़ा कोई सरोकार आज माना जा सकता है तो निश्चित रूप से वह पर्यावरण ही है। सम्पूर्ण विश्व आज निरन्तर बढ़ते पर्यावरण प्रदूषण की विभीषिका से संत्रस्त है। नदियाँ सूख रही हैं, तालाबों का अस्तित्व समाप्त होता जा रहा है। प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन के कारण एक तरफ मानव का जीवन विनाश के कगार पर जा पहुंचा है, तो दूसरी तरफ बढ़ते आणविक-युद्ध की विभीषिका ने विश्व-मानव की नींद उड़ा दी है। लगातार वनों की कटाई दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। नरेश अग्रवाल की एक कविता है :

मैं गुजर रहा था, अपने चिरपरिचित मैदान से
एकाएक चीख सुनी, जो मेरे प्रिय पेड़ की थी
कुछ लोग खड़े थे, बड़ी-बड़ी कुल्हाड़ियाँ लिए
वे काट चुके थे इस के हाथ, अब पाँव भी
काटने वाले थे।[10]

यूरोप के औद्योगीकरण के समानान्तर आधुनिक हिन्दी काव्य का जन्म होता है। इसी औद्योगीकीकरण के कारण अब प्रकृति मात्र सौंदर्य का उपादान न रह कर धीरे-धीरे क्रूर दृष्टि का शिकार होने लगती है। अपनी 'कश्मीर-सुषमा' में श्रीधर पाठक जहाँ प्रकृति की मनोमुग्धकारी छटा बिखेरते हैं तो वहीं हरिऔध आधुनिक हिंदी के पहले महाकवि अपने 'प्रिय-प्रवास' में राधिका की हृदय-व्यथा को सजगता से प्रकृति के उपादानों द्वारा व्यंजित कराते हैं। वे प्रकृति के द्वारा ही कृष्ण की पीड़ा की अभिव्यक्ति करते हैं :

उत्कंठा के विवश नभ को, भूमि को पादपों
को। ताराओं को मनुज मुख को प्रायः देखता
हूं। प्यारी! ऐसी न ध्वनि मुझको है कहीं भी
सुनाती। जो चिंता से चलित-चित की शान्ति
का हेतु होवें।[11]

वहीं दूसरी ओर प्रकृति की छटा का सुंदर रूप मैथिलीशरण गुप्त के साकेत, पंचवटी, यशोधरा और सिद्धराज आदि ग्रंथों में सुन्दर रूप में अभिव्यंजित होता है। चन्द्र-ज्योत्स्ना में रात्रिकालीन वेला की प्राकृतिक छटा का मुग्धकारी वर्णन द्रष्टव्य है :

चारू चंद्र की चंचल किरणें खेल रही हैं
जल थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और
अम्बरतल में।[12]

छायावादी काव्य शैली में प्रकृति का सूक्ष्म और उत्कट रूप दिखायी देता है। प्रकृति की भव्यता पंत, प्रसाद और निराला की कविताओं में यत्र-तत्र पायी जाती है। छायावाद में प्रकृति संबंधी कविताओं की अधिकता के कारण ही कुछ विचारकों ने इसे 'प्रकृति काव्य' भी कहा है। जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और हरिवंश राय बच्चन आदि कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रकृति एवं पर्यावरण के सौंदर्य का चित्रण सुंदरता से किया है। छायावादी कवि प्रकृति की रमणीयता में इतने मुग्ध हो जाते हैं कि प्रेयसी का प्यार भी उन्हें तुच्छ लगता है। प्रकृति के सुकुमार कवि पंत कहते हैं :

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी
माया,बाले, तेरे बाल-जाल में, कैसे उलझा दूं
लोचन, भूल अभी से इस जग को।[13]

'संध्या की छटा' को सुन्दरी के रूप में सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने भी आभासित किया है :

दिवसावसान का समय, मेघमय आसमान
से उतर रही है।
वह संध्या सुन्दरी परी-सी, धीरे, धीरे।[14]

छायावाद के प्रमुख स्तम्भ जयशंकर प्रसाद ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'कामायनी', 'झरना', 'लहर', 'आँसू', और 'कानन-कुसुम' आदि में पर्यवारण के महत्व को अत्यंत सरलता व सहजता से चित्रित किया है। आज जिस तरह

से प्रकृति के साथ खिलवाड़ हो रहा है उस का अंदाजा शायद प्रसाद जी को अपने समय में हो गया था तभी वे 'कामायनी' के आरंभ में ही लिखते हैं :

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला
की शीतल छाँह
एक पुरुष, भीगे नयनों से, देख रहा था
प्रलय प्रवाह।[15]

आज का मानव जिस तरह से प्रकृति के साथ भोगवादी दृष्टिकोण को अपना रहा है, उसी कारण आज की हवा तो बेकार हो ही रही है। साथ ही, अकाल और बाढ़ से मानवीय जीवन खतरे में पड़ता जा रहा है। नागार्जुन ने अपनी रचना 'बंगाल का अकाल' में इस संदर्भ का वर्णन किया है :

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उन के पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की
गश्त। कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही
शिकस्त।[16]

छायावाद के अतिरिक्त प्रयोगवादी काव्य के प्रवर्तक अज्ञेय के काव्य में भी मानव और पर्यावरण के अन्तःसम्बन्धों की झलक मिलती है। दूसरी ओर हिंदी गद्य में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध भी पर्यावरणीय समस्यायों को व्यक्त करने का सुन्दर माध्यम रहे हैं। उन्होंने न केवल पर्यावरण के अनुचित दोहन व प्रदूषण के विषय में लिखा, बल्कि पर्यावरणीय स्रोतों के उचित उपाय व संरक्षण के विषय में महत्वपूर्ण सुझाव व निर्देश भी दिए। 'आम फिर बौरा गए', 'अशोक के फूल', मनुष्य का भविष्य आदि निबंधों में जलवायु परिवर्तन, ग्लोबल वार्मिंग, जल और वायु प्रदूषण तथा मनुष्य के आत्मकेंद्रित दृष्टिकोण पर उन का चिंतन दर्शनीय है ।

दसवें दशक का साहित्य जिस पर भूमंडलीकरण और बाजार का स्पष्ट प्रभाव है, वह भी हवा पानी को ले कर निरंतर चिंतित है। चंद्रकांत देवताले अपने काव्य संग्रह 'भूखंड तप रहा है' की अंतिम कविता, 'मई की विशाल छाती पर अग्नि वृक्ष उड़ते हैं' में पेड़ों के निरंतर कटान को रेखांकित करते हुए लिखते है :

एक माँ घर के पेड़ का एक सपना
असंख्य माँएं और धरती पर गाते हुए
पेड़ों के उतने ही सपने पर उतने ही
कुल्हाड़ियों के हमले सपनों की गरदनों
पर पेड़ों के खिलाफ।[17]

भारत डोगरा का मानना है कि पर्यावरण असंतुलन सामाजिक विषमता को भी जन्म देता है। बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा प्रकृति के अत्यधिक दोहन और शोषण को ले कर पर्यावरणविद और साहित्यकार एक ही विचार रखते हैं। कवि लीलाधर जगूड़ी अपनी कविताओं के माध्यम से भाषा, स्थानीय बोलियों और चिड़ियों और आस-पास के वातावरण को बचाने की बात करते हैं :

एक सवाल और खाली पड़ा चौपट हो गया
होगा नरक
एक आदमी के लिए तो वहाँ काफी साधन
होंगे, एक गेहूं का बहुत बड़ा खेत और पार्क
और मकान तो बन ही सकता होगा
इसलिए मैं नरक जाने की दरख्वास्त देता
हूं।[18]

आज हम सभी ग्लोबल वार्मिंग से भलीभांति परिचित हैं। हम सभी जानते हैं कि कार्बनिक गैसों के उत्सर्जन से हमारे जीवन को सुरक्षा पहुंचाने वाली ओजोन परत दिन-प्रतिदिन कमजोर होती जा रही है जिस से धरती का ताप दिन-ब-दिन बढ़ता ही जा रहा है। कवि अरुण कमल लिखते हैं :

आ रहा है ग्रीष्म
देह का एक-एक रोम अब
खुल रहा है साफ और फैलता हुआ
सूरज के डूबने के बाद भी... [19]

आज जिस तरह से महानगरों में आधुनिकता के नाम पर कंक्रीट के जंगल बनते जा रहे हैं और प्रकृति से मिले उपहार हरे-भरे जंगल कटते जा रहे हैं, वह मानव की क्षुद्रता को दर्शाता है। आने वाली पीढ़ी को उस से कितना नुकसान होने वाला है, इसे वह अपने छोटे से स्वार्थ के कारण नहीं समझ पा रहा है। इसी तथ्य की तरफ ध्यान दिलाते हुए नवगीतकार डा. ओमप्रकाश सिंह ने लिखा हैः

प्यासी आँखे, प्यासे पनघट, प्यासे ताल-तलैया
बिना पानी के, यह जिंदगानी, काँटों की है शैय्या।[20]

वैश्विक फलक पर वर्तमान में सब से बड़ी समस्या पर्यावरणीय संकट की है। मनुष्य द्वारा पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की इच्छा ने सब से अधिक दोहन पर्यावरण का किया है। भूमंडलीकरण और मशीनीकरण की इस दुनिया ने जिस प्रकार ऊर्जा के स्रोतों का उपयोग किया है, उस से जल और वायु के प्रदूषण में बेतहाशा वृद्धि हुई है। भूमि के अनुपजाऊ होने और नदियों के जल के कम एवं दूषित होने से अनेक नयी बीमारियों का जन्म हुआ है। वर्तमान में चारों ओर फैले हुए प्रदूषण को कम करने हेतु

हम कह सकते हैं कि प्राचीन एवं वर्तमान वैज्ञानिकों, पर्यावरणविदों के समान ही हिन्दी साहित्य की काव्य परंपरा में कवियों ने पर्यावरण के प्रति अपनी जिम्मेवारी का निर्वहन किया है। साहित्य ने लगातार समाज को इस ज्वलंत समस्या के बारे में जागरूक करने का प्रयास किया है और यह अनवरत जारी है। इतनी नीतियों के पश्चात भी प्रदूषण बढ़ता ही जा रहा है। अब यह समाज के लोगों की व्यक्तिगत जिम्मेवारी बनती है कि हम इन सभी चिंतकों के विचारों पर चलते हुए स्वयं इस बात हेतु प्रतिबद्ध हों कि चाहे कुछ भी हो, व्यक्तिगत रूप से वे स्वयं किसी भी प्रकार का अनावश्यक प्रदूषण नहीं करें। प्रकृति के प्रति अपनी नैतिक जिम्मेवारी को समझते हुए अधिक से अधिक लोगों को पर्यावरण प्रदूषण के प्रति जागरूक करने का प्रयास करें। प्रकृति संरक्षण हेतु साहित्य में जो उपाय बतलाये गये हैं, उन के आधार पर इस के संरक्षण के लिए कार्य करें और ऐसी स्थिति उत्पन्न करें कि मानव अपनी आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रकृति द्वारा दिये हुए उपहार को बचा सकें।

संदर्भ

1. यजुर्वेद शांति सूक्त, 36/17
2. किष्किंधाकाण्ड, रामचरितमानस, लोक-11, चौपाई-2, तुलसीदास, गीता प्रेस
3. कुटज, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हजारी प्रसाद ग्रंथवाली, अंक-9, पृ. 32, राजकमल प्रकाशन
4. पदावली, विद्यापति, पृ. 295
5. रहीम ग्रंथावली, सं. पंडित विद्यानिवास मिश्र, पृ. 143
6. रामचरितमानस, तुलसीदास, 2/236/3, गीता प्रेस
7. जायसी ग्रंथावली, मलिक मोहम्मद जायसी
8. बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर, लोकभारती प्रकाशन
9. बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर, लोकभारती प्रकाशन
10. नरेश अग्रवाल की कविता, https://www-rachanakar-org/2014/05/blog & post_7192-html
11. प्रिय-प्रवास, हरिऔध, आधुनिक काव्य सोपान, पृ. 05
12. पंचवटी, मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन , चिरगांव, पृ. 40
13. सुमित्रानंदन पंत संचयन, कुमार विमल, पृ. 51
14. कवि श्री निराला, संपादक-सियाराशरण गुप्त, पृ.11
15. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, वेब पेज कविता कोश से उद्धृत
16. अकाल और उस के बाद, नागार्जुन, वेब पेज कविता कोश से उद्धृत
17. भूखंड तप रहा है, चंद्रकांत देवताले, वेब पेज कविता कोश से उद्धृत
18. उपद्रव (एक सवाल और), लीलाधार जगूड़ी, किताब घर प्रकाशन, पृ. 66
19. पुतली में संसार, कविता, अरुण कमल, वाणी प्रकाशन, पृ. 92
20. पर्यावरण की चिंता, नवगीतकार ओम प्रकाश सिंह, वेब पेज कविता कोश से उद्धृत

डा. आलोक रंजन पांडेय,
सहायक प्रवक्ता, हिंदी विभाग,
रामानुजन कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

जीने का संकट और प्रतिरोध की कविता

—उमाशंकर चौधरी

जब भी कविता पर बात होती है और कविता की परिभाषा को समझने का प्रयास किया जाता है तो यह अर्थ उस में अंतर्ध्वनित होता है कि जीने के बढ़ते संकट के बरक्स प्रतिरोध की कविता ही असल में कविता है। कविता के प्रतिरोधी स्वरूप पर बात करते हुए जो बात सब से पहले ध्यान में आती है वह प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन में अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए प्रेमचंद का व्याख्यान। लखनऊ की धरती पर कथा सम्राट प्रेमचंद ने कहा था, 'साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, उन का दरजा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उन के आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।' (प्रेमचंद के भाषण 'साहित्य का उददे्श्य' से उद्धृत) प्रेमचंद ने आगे साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं मानते हुए उस के प्रतिरोधी स्वरूप पर कहा, 'हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिस में उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हमें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।' (उसी व्याख्यान से उद्धृत)

अब अगर सीधे इस विषय पर आएं तो इस विषय के दो हिस्से हैं। पहला हिस्सा कहता है, जीने का संकट और दूसरा कहता है, प्रतिरोध की कविता। अगर इस विषय को इस तरह कर दिया जाए कि बढ़ता हुआ जीवन का संकट और बढती हुई प्रतिरोध की कविता, तब यह शायद ज्यादा मौंजू हो जाए। यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ जीवन का संकट नहीं कह कर जीने का संकट कहा गया है। जीवन का संकट का मतलब तो हुआ कि जीवन में कौन-कौन से संकट हैं? लेकिन जब यहाँ बढ़ता हुआ जीवन का संकट कहा जा रहा है तब यह जीने का संकट का रूप लेता है जो उस से बहुत आगे की बात है। मुझे लगता है कि 'जीने का संकट' के यहाँ दो भाष्य होने चाहिए—एक तो इस संदर्भ में कि जीवन की समस्यायें इतनी क्रूरतम होती जा रही हैं कि जीवन जीने तक पर संकट आ गया है और दूसरा संदर्भ यह कि अब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर जो भयानक संकट है यानि जो बोलेगा, जो लिखेगा जो प्रतिरोध में उठ खड़ा होगा उस के जीने का संकट है।

गौर से देखें तो जीने का संकट और प्रतिरोध की कविता ये दोनों ही शाश्वत किस्म की बातें हैं। जब से जीवन है, जीवन का संकट है और जब से जीवन में संकट है, प्रतिरोध की आवाज भी है। यह बात ठीक उसी तरह है जिस तरह से यह कहा जाए कि जब से इस समाज में जाति व्यवस्था है, तब से ही इस का विरोध भी है। परन्तु, यह भी उतना ही बड़ा सत्य है कि जब समाज में एक ढंग की बुराई बढ़ेगी तो दूसरा भी उसी अनुपात में बढ़ेगा ।यानि दोनों में एक समानुपातिक सम्बन्ध है। यानि 'जीने का संकट और प्रतिरोध की कविता' में दोनों ही पद में 'बढ़ता हुआ' छुपा हुआ है। दोनों बढ़ रहे हैं इसलिए जीवन का संकट यहाँ जीने का संकट हो गया है और प्रतिरोध की कविता में तीक्ष्ण होता प्रतिरोध छुपा हुआ है।

सवाल यह है कि आज हम कविता के प्रतिरोधी स्वरूप पर क्यों बात कर रहे हैं? अगर हम सोचने बैठें तो क्या कोई भी अच्छी, अर्थवान और प्रासंगिक कविता अपने स्वरूप में प्रतिरोधी न हो, क्या ऐसा हो सकता है? क्या कबीर की कविता प्रतिरोध की कविता नहीं थी? क्या 'राम की शक्ति पूजा' या 'अंधेरे में' प्रतिरोध की कविता नहीं थी? मुझे लगता है कि एक अच्छी कविता का आधारभूत स्वरूप ही प्रतिरोधी होता है।

मलयज अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'कविता से साक्षात्कार' की भूमिका में लिखते हैं—'कविता कुछ भी सिद्ध नहीं करती सिवाय एक अनुभव को रचने के।' अगर हम इस बात से सहमत हो जाएं फिर तो शायद हम यह मान लेंगे कि आज हम जिस प्रतिरोध की कविता पर बात कर रहे हैं, वह आज की परिघटना है। और साथ ही, यह भी मान लेंगे कि कुछ कविताएं ऐसी भी होती हैं जो प्रतिरोध की कविता नहीं होती हैं।

मुक्तिबोध का एक निबन्ध है, 'जनता का साहित्य किसे कहते हैं', मुझे लगता है साहित्य के हर अध्येता को कम से कम एक बार उस निबन्ध को जरूर पढ़ना चाहिए। उस में उन्होंने लगभग साहित्य की परिभाषा देते हुए बताया है कि साहित्य को कैसा होना चाहिए। वे लिखते हैं, 'जनता का साहित्य का अर्थ जनता को तुरन्त ही समझ में आने वाले साहित्य से हरगिज नहीं। अगर ऐसा होता तो किस्सा तोता मैंना और नौटंकी ही साहित्य के प्रधान रूप होते।'

मुक्तिबोध ने जनता के साहित्य को जनता के लिए साहित्य कहा और विस्तार से समझाते हुए यह माना कि साहित्य 'जनता का जीवन चित्रण करने वाला साहित्य, मन को मानवीय और जन को जन जन करने वाला साहित्य, शोषण और सत्ता के घमंड को चूर करने वाले स्वातंत्र्य और मुक्ति के गीतों वाला साहित्य है।' मुक्तिबोध ने जनता यानि पाठकों से भी यह अपेक्षा रखी है कि गंभीर साहित्य के लिए वे भी सुशिक्षित हों और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध हों।

यानि, जब प्रेमचंद यह बात सामने रखते हैं कि अब ऐसा साहित्य लिखा जाना चाहिए जो सुलाए नहीं, अपितु जगाए क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है, तब सवाल अनायास मन में आता है कि क्या कोई साहित्य सुलाने वाला भी होता है? या, इसे इस तरह रख सकते हैं कि जो साहित्य सुलाता है, उसे क्या साहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है? मुक्तिबोध में अपने निबंध 'जनता का साहित्य किसे कहते हैं' में स्पष्ट रूप से लिखा है कि जनता के साहित्य का मूल स्वर प्रतिरोधी होना चाहिए।

हम जानते हैं कि मुक्तिबोध से भी पहले इस बात की तरफ अज्ञेय ने इशारा किया था। अज्ञेय इस बात को मानते थे कि समय बदल रहा है इसलिए कवियों की इमेज को भी बदलना चाहिए। इमेज को बदलने से उन का मतलब था, कवियों का अपने समय के प्रति अधिक से अधिक जागरूक होना। अज्ञेय ने भी पाठकों से यह उम्मीद की थी कि वे अपनी रुचि में तब्दीली लाएं और अपने आप को गंभीर कविता के योग्य बनाएं। मैं मानता हूं कि अज्ञेय कवि कैसे थे? यह अपनी-अपनी पसंद की बात हो सकती है लेकिन अज्ञेय ने हिन्दी कविता को आधुनिक बनाने का एक स्वप्न देखा था और इस के लिए उन्होंने कई तरह के प्रयास भी किये थे।

अज्ञेय बीसवीं सदी में कविता और पाठक के बदलते हुए रिश्ते पर बात करते हुए वास्तव में बदले हुए समय और बदली हुई परिस्थिति पर बात करना चाहते थे। वे चाहते थे कि हिन्दी कविता को बदले हुए समय और बदली हुई परिस्थिति के अनुसार ही अपने आप को बदल लेना चाहिए। छपाई के बाद अब कवि, कविता और पाठक सब अकेले थे। समय आधुनिक हो चुका था। सम्प्रेषण का तरीका आधुनिक हो चुका था तो कविता को अपने मिजाज में आधुनिक होना चाहिए था। उन्होंने 'सर्जना के क्षण' की भूमिका में लिखा, 'मेरे गुरु-स्थानीय स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त अपनी अर्थात् वाचिक परम्परा के अन्तिम महाकवि थे : उन का शिष्य मैं जब लिखने लगा तो नयी रचना-स्थिति के तर्क को पूरी तरह स्वीकार कर के, और यह जान-मान कर के कि नयी रचना-स्थिति को, नयी सम्प्रेषण-स्थिति के नियामक प्रभाव को पूरी तरह स्वीकार कर के ही 'आधुनिक' कवि हुआ जा सकता है—फिर वह आधुनिकता चाहे जितनी कठिनाइयाँ अपने स्वीकार के साथ लाए!'(सर्जना के क्षण की भूमिका से) यहाँ अज्ञेय कवि और कविता के लिए जिस आधुनिकता की बात कर रहे हैं, वास्तव में वही प्रगतिशीलता है या कहें प्रतिरोध है।

मैं इस सवाल पर फिर से लौटता हूं कि क्या प्रतिरोध के बिना कविता संभव है? सब से पहले तो यह जानना

जरूरी है कि प्रतिरोध सिर्फ सत्ता का नहीं होता है या इसे यों कहें कि प्रतिरोध सिर्फ राजनीतिक सत्ता का नहीं होता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि प्रतिरोध हमेशा सत्ता का ही होता है लेकिन वह सत्ता सिर्फ राजनीतिक सत्ता ही नहीं होती। सत्ता का चरित्र उस के अनुरूप बदलता रहता है जो प्रताड़ना झेल रहा है। अवर्ण के लिए सवर्ण, स्त्री के लिए पुरुष, धर्म को सम्प्रदाय के रूप में उभारा गया हो तो मुस्लिम के लिए हिन्दू, गरीब के लिए अमीर आदि आदि। यानि, प्रताड़ना के रूप अनेक हैं और उस के अनुरूप सत्ता का चरित्र भी अलग-अलग है। अपने तेवर या कह लें अपने स्वरूप में भी कविता का प्रतिरोध अलग-अलग होता है। कोई कविता अपने मिजाज में बहुत प्रतिरोधी लग सकती है और कोई कविता अपने स्वरूप में कम प्रतिरोधी भी लग सकती है। परन्तु इस से यह मतलब नहीं निकलता है कि वह प्रतिरोधी नहीं है।

अब कबीर से सूरदास की कविता या निराला से जयशंकर प्रसाद या महादेवी वर्मा की कविता देखने में कम प्रतिरोधी लग सकती है परन्तु ऐसा है नहीं। प्रतिरोध हमेशा लाउड ही हो ऐसा हमेशा जरूरी नहीं है। निराला की कविता 'जागो फिर एक बार' और 'वह तोड़ती पत्थर' इन दोनों कविताओं को एक साथ पढ़ा जाए तो 'जागो फिर एक बार' ज्यादा प्रतिरोधी कविता महसूस होगी जब कि ऐसा है नहीं। 'वह तोड़ती पत्थर' की वह पंक्ति 'मार खा पर रोई नहीं' में जो प्रतिरोध छुपा हुआ है वह अद्‌भुत है। महादेवी की लगभग सारी कविताओं को हम अक्सर बहुत मृदु मान कर उसे रहस्य या विरह के खाँचे में डाल देते हैं जब कि बहुत गौर से पढ़ा जाए तो वह अपने समय के प्रतिरोध का अद्‌भुत पाठ रचती हैं। 'राम की शक्ति पूजा' और 'सरोज स्मृति' प्रतिरोध का अलग अलग स्वरूप और अलग-अलग क्राफ्ट लिए हुए हैं। लेकिन इन दोनों ही कविताओं में से किसी भी कविता को ले कर यह कहा जाना संभव नहीं है कि 'राम की शक्ति पूजा' प्रतिरोध की कविता है और 'सरोज स्मृति' व्यक्तिगत दुख की।

और अंत में, फिर से इस सवाल पर लौटता हूं कि जब साहित्य अपने आधारभूत स्वभाव में ही प्रतिरोधी होता है तब आज हम इस विषय पर बात क्यों कर रहे हैं? जैसा कि मैंने पहले ही कहा कि यह जीवन के संकट से जीने के संकट तक का सफर है और जो बहुत ही चिंतनीय है। तो, जब-जब समाज में जीने पर संकट आयेगा तब-तब साहित्य के प्रतिरोधी स्वरूप पर नए सिरे से बात अवश्य होगी। प्रतिरोध का स्वर हमेशा से रहता आया है इस में कोई संदेह नहीं है परन्तु आज की कविता अपने आप में दो बदलावों को मंजूरी देती है। पहला कि अब समय बदल गया है। आजादी के 70-75 वर्षों के बाद भी ऐसा कभी लगा नहीं कि प्रतिरोधी साहित्य को लिखने में कभी भय का सामना करना पड़ा हो। लेकिन अब ऐसा नहीं कहा जा सकता। स्थितियाँ इस के बिल्कुल विपरीत हो गयी हैं।

लेकिन दिलचस्प यह जानना है, जैसा कि मैंने पहले भी कहा था, कि जीने के संकट और प्रतिरोध की कविता में एक अंतर्सम्बन्ध है। एक बढ़ेगा तो दूसरे में भी तमाम आशंकाओं के बावजूद तीक्ष्णता बढ़ेगी। आपातकाल के ठीक सामने नागार्जुन की कविता को इस संदर्भ में पढ़ा जाना चाहिए। आज राजेश जोशी, मदन कश्यप, विष्णु नागर से ले कर अनेक कवियों के द्‌वारा कविता में तीक्ष्ण प्रतिरोधी स्वर दिखता है। यह विषय आज इसलिए मौजूं है क्योंकि जीने का संकट भी बढ़ता जा रहा है और उसी अनुपात में प्रतिरोधी कविता भी बढ़ती जा रही है।

उमाशंकर चौधरी, सहायक प्रवक्ता,
हिन्दी विभाग, श्रद्‌धानंद कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
सम्पर्क- एच-2 महानदी एक्सटेंशन, इग्नू
अवासीय परिसर, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-68
umashankarchd@gmail.com
9810229111

गैर-दलित पत्रिकाओं के दलित विशेषांक
एक संक्षिप्त अवलोकन

—डा. विजय पाल

डा. एन. सिंह व अरुण कुमार के संपादन में गाँव के लोग द्वैमासिक पत्रिका जनवरी-फरवरी 2021 का दलित विशेषांक प्रकाशित हुआ। अंक पर 21वीं सदी का 21वाँ वसंत के साथ प्रगतिशील ग्रामीण चेतना की द्वैमासिक पत्रिका लिखा है। कवर पृष्ठ पर खंबे से कुछ माँगते हुए हाथ दिखाये गये हैं। खंबे के आसपास सब सुनसान दिखाया गया है। खंबे के नीचे आसमानी धरातल पर पीले रंग से दलित विशेषांक लिखा गया है। इस के नीचे सफेद रंग से 'रोटी और मुक्ति के विचारों के बीच घूमता समाज' लिखा गया है। इस में अनुसूचित जातियों के लेखकों की कहानियाँ कवितायें, आत्मकथांश, उपन्यासों के अंश और नाटकों आदि को शामिल किया गया है। विशेषांक की शुरुआत पूर्व राज्यपाल माता प्रसाद के साक्षात्कार से होती है। इन से आशीष दीपांकर व दिनेश कुमार दिव्यांश सवाल करते प्रस्तुत किये गये हैं। माता प्रसाद जी से कई मुद्दों पर सवाल किये गये हैं और उन्होंने इन के चिर-परिचित उत्तर दिये हैं। अपर्णा के प्रश्न का उत्तर देते हुए बी. आर. विप्लवी कहते हैं, 'आज अभिव्यक्ति की आजादी का हनन हो रहा है।' स्वाभाविक है, कई क्षेत्रों में यह समस्या आज भी है। मूलचंद सोनकर, जो अब इस दुनिया में नहीं हैं, से अपर्णा की बात-चीत गजलों में दलित प्रश्न को उठाये जाने को ले कर हुई है। उन्होंने इस पर अपनी सहमति दी है। सतीश खनगवाल के प्रश्न का उत्तर देते हुए मलखान सिंह कहते हैं, 'मुक्ति के विचारों को क्षति पहुंचा रहा है प्रतिक्रियावाद।' उन की बात में कोई सन्देह नहीं। प्रो. चौथीराम याादव के विचार दलित साहित्य के समर्थन में हैं। नैमिशराय जी का कहना है, 'दलितों को अपनी लड़ाई मिल कर लड़नी चाहिए।' उन की बात से असहमत नहीं हुआ जा सकता है लेकिन व्यवहार में इसे कैसे उतारा जाए यह बड़ी समस्या है। वैचारिकी के अन्तर्गत 23 लेखकों के विचार पढ़े जा सकते हैं जिस में डा. श्यौराज सिंह बेचैन, प्रो. काली चरण स्नेही, डा. कुसुम वियोगी, रजनी सिसोदिया, जवाहर लाल कौल और विपिन बिहारी आदि शामिल हैं। इन्होंने अपने-अपने विचार रखे हैं जिन से दलित साहित्य आंदोलन को खड़ा करने

में मदद मिलती है। रत्नकुमार साभरिया के उपन्यास 'साँप', सुशीला टॉकभौरे के उपन्यास 'चुन्नी रे' और हरीराम मीणा के उपन्यास 'डांग' के अंश को भी विशेषांक में शामिल किया गया है। पहली बार हुआ है कि संपादकों ने नवगीतकारों को भी विशेषांकों में स्थान दिया है। अरुण कुमार कहते हैं, 'सदियों से दलित समाज रोटी और मुक्ति के सवालों से जूझता रहा है। प्रताड़ना, शोषण और उत्पीड़न के इतिहास से जले हुए दलित के समक्ष आज 21 वीं सदी में भी मुक्ति की कोई राह दिखायी नहीं देती। पुरातन मानसिकता ने आज भी उन की मुक्ति की राह को अवरुद्ध कर रखा है।' अरुण कुमार की बात तो सही है पर साथ में यह भी सही है कि यदि पुरातन मानसिकता अपनी राह बदल लेती तो दलित साहित्य का उदय ही नहीं होता। तब, मा. कांशीराम समाज परिवर्तन की बात ही नहीं उठाते। उन के सामने कोई दूसरा मुद्दा होता।

गैर दलित पत्रिकाओं के दलित विशेषांक की बात करें तो इस की शुरुआत 'चाँद' पत्रिका से होती है जो मई, 1927 में छपी थी और जिस के संपादक सकारात्मक सोच रखने वाले पंडित नन्द किशोर तिवारी थे। उस समय के लेखक अपने-अपने तरीके से भारत की आजादी के गीत लिख रहे थे और दलित समाज अपने सम्मान की लड़ाई लड़ रहा था। दलित आन्दोलन धीरे-धीरे गति पकड़ रहा था। एक तरफ बाबा साहेब डा. अम्बेडकर दलितों के हकों के लिए लड़ रहे थे तो दूसरी तरफ स्वामी अछूतानन्द अपनी साहित्यिक और वैचारिक पत्रकारिता से दलितों में जोश भर रहे थे। दलित मुद्दों के प्रति अंग्रजों की पक्षधरता सवर्ण विचारकों में बेचैनी पैदा कर रही थी। प्रेमचन्द इन घटनाओं को संज्ञान में ले रहे थे। उन्होंने मंदिर जैसी कहानी लिखी और पंडित नन्दकिशोर तिवारी ने इसे अपने अछूत विशेषांक में छापने में तनिक भी देर नहीं लगायी। 'चाँद' के अपने एक संपादकीय में तिवारी जी ने लिखा है, हिन्दू जाति को प्रलय के भयावह दृश्य से बचाने के लिए आवश्यकता है कि हम अपने पूर्व पापों का प्रायश्चित्त कर अछूत कहे जाने वाले भाइयों का सम्मान तथा आदर करें।' वैसे, यह विचार गाँधी जी से प्रेरित होता दिखायी देता है न कि बाबा साहेब डा. अम्बेडकर से। बावजूद इस के, गैर-दलित हिन्दी संपादकों में पंडित नन्द किशोर तिवारी पहले ऐसे संपादक हैं जिन्होंने 'चाँद' पत्रिका का 'अछूत' अंक निकाल कर दलित समस्या की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

बाबा साहेब के साहित्य पर केन्द्रित 'सुमन लिपि' का एक विशेषांक नवंबर, 1995 में प्रकाशित हुआ जिस के अतिथि संपादक डा. एन. सिंह थे। इस अंक में दलितों और गैर-दलितों दोनों की रचनाओं को शामिल किया गया। दलित साहित्य के बारे में अपने निष्कर्ष निकालते हुए डा. एन. सिंह ने लिखा, 'हिन्दी में दलित साहित्य विचार और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से विकास कर रहा है। 'पश्यन्ती' नई दुनिया न्यूज एंड नेटवर्क प्रा. लि., इन्दौर की त्रैमासिक पत्रिका है। पत्रिका में प्रणव कुमार बंद्योपाध्याय की भूमिका प्रधान संपादक के रूप में है। दलित साहित्य के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए बंद्योपाध्याय जी ने 'पश्यन्ती' का अप्रैल-जून, 1998 का अंक दलित विशेषांक के रूप में निकाला। उन्होंने दलितों तथा गैर-दलितों के संवाद को एक मंच पर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया। 'छोटी-सी बात' नाम से लिखे अपने संपादकीय में उन्होंने लिखा है, 'दलितों की चेतना पर गंभीरता पूर्वक बहुत बातें देश में नहीं हुईं। चेतना के मुद्दे को लोगों ने संभवतः वायवीय मान लिया है जिस कारण से उस की पहचान पर न तो वैज्ञानिक बहस पर्याप्त रूप से हो पायी, न ही उस की प्रयोजनीयता पर गहराई से सोच-विचार कर किसी आवश्यक आधार को ढूढ़ निकालने की कोशिश की गयी।' इसी में आगे उन्होंने लिखा है, 'दलित चेतना एक नितांत जरूरी मुद्दा है, ताकि हम समझ सकें कि इस राष्ट्र के उत्पीड़न का आधार क्या है और उत्पीड़ित लोगों के भीतर की अर्जी किस रूप में सामने आ सकती है।'

'नया मानदंड' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य शोध संस्थान, दुर्गाकुंड, वाराणसी की त्रैमासिक पत्रिका है। दलित चेतना के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए संस्थान ने 'नया मानदंड' अक्टूबर-दिसम्बर, 1998 का अंक दलित मुद्दों पर केन्द्रित कर प्रकाशित किया। इस के अतिथि संपादक के रूप में दलित साहित्यकार जयप्रकाश कर्दम थे। उन्होंने परंपरागत साहित्य पर चिंता व्यक्त करते हुए लिखा है, समाज की तरह साहित्य में भी दलितों को हाशिए पर रखा गया तथा उन की आवाज को अनसुना और उपेक्षित किया गया। दलित क्या सोचता है, वह क्या चाहता है, उस की आशा-आकांक्षा क्या है, वह दीन-हीन है, लेकिन क्यों है? इस का क्या कारण है और उस को इस स्थिति से उबारा जा सकता है? इस ओर समुचित रूप से कभी कोई ध्यान नहीं दिया गया।' विशेषांक में 15 लेखकों के 15 लेख संकलित हैं जिन में 13 दलित तथा दो गैर-दलित के हैं। इस में संपादिका कुसुम चतुर्वेदी ने दलित साहित्य पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है, 'लोकमंगल की साधनावस्था का यह सार्थक दलित साहित्य लेखकीय सन्नाटे को चीरता हुआ पाठकीय चेतना की सक्रियता और सह-भागिता आमंत्रित करता है। 'नया मानदंड' का दूसरा अंक जो अप्रैल-जून, 2000 में निकला वह भी दलित साहित्य विशेषांक के रूप में निकला। प्रधान संपादिका कुसुम चतुर्वेदी ने इस विशेषांक की प्रस्तावना में लिखा है, 'दलित संघर्ष पर केंद्रित 'नया मानदण्ड' के इस दूसरे अंक का उद्देश्य दलितों के आलोचनात्मक सरोकारों

से साक्षात्कार कराना मात्र नहीं है, बल्कि आधुनिक साहित्य में जो अंतरधारा के रूप में चल रहा था अब उस साहित्य की प्रतिष्ठा करना हमारा लक्ष्य है। लेकिन पत्रिका में कुसुम चतुर्वेदी ने कोई ऐसी रूपरेखा नहीं प्रस्तुत की कि उसे कैसे प्रतिष्ठित कराया जाए। दलित साहित्य की प्रशंसा करते हुए कुसुम चतुर्वेदी ने आगे लिखा है, 'दलित साहित्य उस दौर में है जहाँ अतीत के बाद वर्तमान की विकृतियों के सापेक्ष संबंधों की जाँच-पड़ताल का उद्देश्य बेहतर भविष्य का निर्माण है।' इस के आगे वे क्या सोचती हैं बाद के इस के तीनों अंकों में कोई जिक्र नहीं है।

दलित साहित्य के प्रश्नों को ले कर 'कथाक्रम' के संपादक शेलेन्द्र सागर ने रुचि दिखायी और 'कथाक्रम का दलित विशेषांक प्रकाशित कराया। प्रसिद्ध रंगकर्मी व पत्रकार मुद्राराक्षस को 'कथाक्रम' के दलित विशेषांक का अतिथि संपादक बनाया। 'कथाक्रम' का यह अंक नवम्बर, 2000 में निकला जिस में महत्वपूर्ण सामग्री संगृहीत की गयी। इस में दलित मुद्दों से जुड़ी हुई अच्छी बहसें उठायी गयी हैं। उत्तर प्रदेश के मथुरा जिले की सकारात्मक सोच रखने वाली विजय लक्ष्मी के संपादन में त्रैमासिक पत्रिका 'उत्तरार्द्ध' का दलित विशेषांक जनवरी, 2003 को मथुरा से प्रकाशित हुआ। 80 पृष्ठों के उक्त विशेषांक में कहानी, कविता, रपट एवं वैचारिक लेख हैं। विशेषांक में दलितों तथा गैर-दलितों का परस्पर संवाद है। इस में हिन्दी से इतर लेखकों के लेख भी सम्मिलित किये गये हैं।

हिन्दी के लेखकों के साथ मराठी की डा. सुशीला टाकभौरे, गुजराती के हरीश मंगलम्, जयंत परमार और पी. एम. परमार मलयालम के प्रो. ए. अच्युतन कन्नड़ के डा. सिद्ध लिंगय्या आदि की कविताओं को शामिल किया गया है। कमलकांत प्रसाद, डा. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, कंवल भारती, एन. जी. कांबले एवं चमन लाल वैचारिक लेखों के रूप में दलित कालम की पूर्ति करते हैं। दलित साहित्य के संबंध में संपादक सनत कुमार ने लिखा है, अब दलित साहित्य में वेदना ही महत्त्व का तत्त्व नहीं है, संघर्ष का तत्त्व भी महत्त्व का है। यह दलित चेतना का ही परिणाम है कि सनत कुमार को दलित संघर्ष का तत्त्व भी आज महत्त्व का दिखायी देने लगा है। जब भगोने के नीचे गैस जलने लगेगी तब पानी तो उबलेगा ही। पशु-पक्षी की चहचाहट और मनुष्य की बिलबिलाहट ऊंचे तापमान का संकेत होती हैं।

मध्य प्रदेश की 'वसुधा' पत्रिका का जुलाई-सितम्बर, 2003 का अंक दलित विशेषांक के रूप में पाठकों तक पहुंचा। इस के अतिथि संपादक पुन्नी सिंह ने दलित दृष्टि पर विचार करते हुए लिखा है, 'मराठी संपर्क में आने के कारण और हिन्दी क्षेत्र में दलित-चेतना के तीव्र विकास के चलते हिन्दी साहित्यकारों पर दबाव बढ़ने लगा कि वे पूर्वाग्रहों को त्याग कर मराठी में साहित्य की जो जीवंत और उत्प्रेरक परंपरा विकसित हुई है, उस का खुले दिल से स्वागत करें। इसी अंक में प्रधान संपादक कमला प्रसाद ने लिखा है, इस अंक में हमारा प्रयास यह रहा है कि दलित विमर्श और दलित लेखन का राष्ट्रीय स्वरूप सामने आ सके। लेकिन सवाल है, सदियों से पीड़ित वर्ग का राष्ट्रीय स्वरूप क्या एक दो अंक प्रकाशित करने से सामने आ सकता है?

मराठी में दलित साहित्य की चर्चा होने के बाद हिन्दी में दलित साहित्य की चर्चा कराने में डा. महीप सिंह का विशेष योगदान रहा है। डा. महीप सिंह की त्रैमासिक पत्रिका 'संचेतना' का अंक साहित्य और दलित चेतना के नाम से आया। यह अंक जिस समय आया उस समय दलित साहित्य की चर्चा मराठी में अपना पूरा रंग जमा चुकी थी। उक्त विशेषांक के संपादन में चन्द्रकांत बांदिवड़ेकर का भी नाम अंकित है। विशेषांक में कुछ रचनायें मराठी से हिन्दी में अनुवादित भी हैं। अनुवाद में रामजी तिवारी और बांदिवड़ेकर का विशेष योगदान है। दिसंबर, 1981 में प्रकाशित 200 से अधिक पृष्ठों के इस विशेषांक में दलित साहित्य के वैचारिक पक्ष की विस्तृत चर्चा की गयी है। इस में आत्मवृत्त, कहानियाँ, एकांकी तथा कविताओं की अच्छी बानगी एकत्र की गयी है।

दलित साहित्य की विभिन्न दृष्टियों से जाँच-पड़ताल की जाने लगी तो उत्तर प्रदेश सरकार की पत्रिका 'उत्तर प्रदेश संदेश' का सितम्बर-अक्टूबर 2002 का अंक दलित साहित्य विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ। अपने संपादकीय में विजय राय ने लिखा है, 'भारतीय राजनीति में दलितों के उभार के साथ-साथ साहित्य, संस्कृति और कला की दुनिया में भी दलितों का वर्चस्व बढ़ा है।' संपादकीय का अंत करते हुए उन्होंने लिखा है, 'उत्तर प्रदेश के दलित विशेषांक के द्वारा हम ने दलित साहित्य आन्दोलन को एक बार पुनः बहस के केंद्र में रखने की कोशिश की है जहाँ फिर एक बार विभिन्न विचारधाराओं के लेखकों ने इस बहस को आगे बढ़ाया है और यह स्थापित किया है कि दलित लेखन में उत्तरोत्तर परिलक्षित होते परिमार्जन ने साहित्य के अब तक के सब से प्रासंगिक सवालों को एक बार फिर जनता के मध्य झोंक दिया है।' विशेषांक में दस्तावेज मूल्यांकन, विवेचन, विमर्श, कहानी, कविता एवं उपन्यासों के अंश पढ़ने को मिल जाते हैं। दलित तथा गैर-दलित लेखकों का सरकारी स्तर पर यह पहला प्रयास है।

हिन्दी में 'हंस' पत्रिका का एक अच्छा-खासा नाम है। इस को प्रकाशित करने वाले मुंशी प्रेमचंद थे। प्रेमचन्द कहानी के माध्यम से दलित अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करने

वाले पहले गैर-दलित साहित्यकार थे। प्रेमचंद के बाद 'हंस' को पुनः प्रकाशित करने की जिम्मेदारी कथाकार राजेन्द्र यादव ने ली। इन के माध्यम से जुलाई 1992 में दलित अभिव्यक्ति पर बहस शुरू होते-होते जून 2004 तक पहुंच गयी। यादव जी ने हंस का अगस्त 2004 के अंक को सत्ता-विमर्श और दलितों के रूप में पाठकों तक पहुंचाया। अतिथि संपादक के रूप में दलित साहित्यकार डा. श्यौराज सिंह बेचैन तथा अजय नावरिया का सहयोग लिया गया। विशेषांक की योजना पर प्रकाश डालते हुए राजेन्द्र यादव जी ने लिखा है, 'यूं तो हंस अपनी वैचारिक गोष्ठियों, बहसों और रचनाओं द्वारा बार-बार दलित समस्या को उठाता ही जा रहा है फिर भी दलित संस्कृति और साहित्य को आज के सत्ता-विमर्श की जटिलताओं के संदर्भ में समझने की एक और कोशिश के रूप में इस विशेषांक का आयोजन किया गया है।' हंस ने वर्ष 2019 में दलित साहित्य का दूसरा विशेषांक भी 'दलित साहित्य द्वितीय सोपान प्रतिरोध, अधिकार, समता' नाम से दो खंडों में निकाला। इस के संपादक अजय नावरिया थे। रमणिका गुप्ता ने अपनी पत्रिका 'युद्धरत आम आदमी' का भी एक दलित विशेषांक निकाला। दलितों के अलावा इन्होंने आदिवासियों पर भी विशेषांक निकाला। अभी हाल ही में साहित्य अकादमी की पत्रिका 'समकालीन भारतीय साहित्य' के संपादक बलराम ने मार्च-अप्रैल, 2021 के अंक को दलित साहित्य विशेषांक के रूप में निकाला। 'उत्तर प्रदेश संदेश' पत्रिका के बाद यह सरकारी स्तर पर दूसरा प्रयास है।

गैर दलितों ने दलित चेतना के लिए अपनी पत्रिकाओं के अंकों को दलित समस्याओं पर भले ही केन्द्रित किये हों, लेकिन ये विशुद्ध रूप से दलित चेतना को अभिव्यक्त नहीं करते। दलितों की उभरती साहित्यिक चेतना के माध्यम से दलित कलमकारों की उस मनोवृत्ति को पहचानना था, जो बाबा साहेब डा. अम्बेडकर, बुद्ध और जोतिबा फुले की विचारधारा पर आधारित थी। डा. धर्मवीर जो एक स्वतंत्र चिंतन ले कर आ रहे थे, अद्यतन विशेषांकों द्वारा इस की उपेक्षा की गयी। दलितों को अतिथि संपादक बना कर ज्यादा से ज्यादा दलित कलमकारों की मनोवृत्ति को जानना रहा है। लेकिन किसी भी संपादक ने अपने यहाँ किसी भी दलित को स्थायी रूप से लिखने के लिए कालम नहीं दिया। सभी ने एक दलित विशेषांक निकाल कर इति श्री मान ली। किसी पत्रिका के संपादकीय विभाग में दलित को नहीं रखा गया। दिल्ली जैसे महानगर से गैर-दलित साहित्यकारों ने किसी दलित लेखक को हिंदी अकादमी से मिलने वाले शलाका पुरस्कार के लिए नाम का प्रस्ताव नहीं किया। गैर-दलित साहित्यकारों एवं लेखकों ने भी किसी भी दलित साहित्यकार व पत्रकार से अपनी कृति का विमोचन तक नहीं कराया। हिन्दी साहित्य में दलित अभिव्यक्ति का सिलसिला जारी तो है पर गैर-दलित पत्रिकाओं का व्यापार दलितों में जम कर बढ़ा है। गैर-दलित संपादक केवल दलित विशेषांक तक ही दलितों को क्यों सीमित करते हैं। अपनी पत्रिकाओं और पुरस्कारों में भागीदारी क्यों नहीं देते।

संदर्भ

1. चाँद, पहली आवृत्ति, 1998
2. सारिका, मई, 1975
3. नारी संवाद, जुलाई-सितम्बर-दिसम्बर, 1995,
4. सुमन लिपि, नवम्बर, 1995
5. पयश्न्ती, अप्रैल-जून, 1998
6. नया मानदंड, अक्टूबर-सितम्बर, 1998,
7. नया मानदंड, अप्रैल-जून, 2000
8. कथाक्रम, नवम्बर, 2000
9. उत्तरार्द्ध, जनवरी, 2003
10. वसुधा, जुलाई-सितम्बर, 2003
11. संचेतना, दिसम्बर, 1981
12. उत्तर प्रदेश संदेश, सितम्बर-अक्टूबर, 2003,
13. हंस, अगस्त, 2004
14. हंस, नवंबर, 2019, खंड 1, दिसंबर, 2019, खंड 2
15. समकालीन भारतीय साहित्य, मार्च-अप्रैल, 2021

डा. विजय पाल
हिन्दी विभाग, दयाल सिंह कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मोबाइल 9818063185

संत रामानंद–एक सर्वोच्च शहादत

डा. मनोज दहिया
(Post-Doctoral Fellow ICSSR, New Delhi)

संत रामानन्द का जन्म 02 फरवरी, 1952 को गाँव अलावलपुर, जिला जालंधर, पंजाब में माता श्रीमती जीत कौर और पिता श्री महंगा राम के घर हुआ। ये रविदासिया यानी चमार समुदाय से थे। यह परिवार वर्ष 1910-15 के आस-पास बल्लां गाँव से अलावलपुर गाँव में आ बसा था।[1] संत रामानन्द ने दोआबा कॉलेज, जालंधर, पंजाब से स्नातक की परीक्षा पास की। पंजाब के किसी भी माता-पिता की तरह उन के माता-पिता भी चाहते थे कि उन का लड़का पढ़ाई कर शादी करे और विदेश में जाए और अच्छा जीवन जिए। परंतु, रामानन्द बचपन से ही संत स्वभाव के थे और संतो के सानिध्य और सेवा में बहुत रुचि रखते थे। उन का रविदासिया समाज के बड़े डेरा सचखंड बल्लां, जालंधर, में पूरी श्रद्धा थी। समय के साथ इन डेरों में उन की श्रद्धा बढ़ती गयी। एक दिन डेरा सचखंड बल्लां के द्वितीय गद्दीनशीन हरिदास महाराज जी ने रामानन्द जी को नाम दान[2] और संत गरीब दास महाराज जी ने उन्हें संतमत का ज्ञान दिया।[3] वर्ष 1973 से उन्होंने डेरा सचखंड बल्लां, जालंधर में रहना शुरू किया। उन्हें संत गरीबदास जी के साथ विदेश जाने का मौका मिला। इन्होंने अपने ज्ञान से रविदासिया समुदाय में आत्मविश्वास भरा और उन को एकजुट किया। ये सतगुरु रविदास की अमृतवाणी के महान ज्ञाता थे। वे अत्यंत सरल उदाहरणों के माध्यम से अमृतवाणी के पदों की व्याख्या करते थे। जब कीर्तन करते थे तो पंडाल में बैठे श्रद्धालुगण मंत्र-मुग्ध हो जाते थे। सतगुरु रविदास की विचारधारा सामाजिक न्याय, स्वतंत्रता, समता तथा बंधुता की है जो संवैधानिक मूल्यों से मेल खाती है। संत रामानन्द, सतगुरु रविदास के इन्हीं आदर्शों पर चलते थे। संत रामानन्द इस बात से बहुत चिंतित रहते थे कि अन्य कई धर्मस्थानों में हमारे समाज के लोगों के साथ भेदभाव होता है। काफी सोच विचार के बाद इस का समाधान इन्होंने यह निकाला कि स्वयं के धर्मस्थान बनाओ। संत गरीबदास और संत निरंजन दास के साथ देश-विदेश में जा कर सतगुरु रविदास के अनेक गुरुघरों और गुरुद्वारों की आधारशिला रखी और उन के निर्माण में सहयोग भी किया। यूनाइटेड किंगडम के रहने वाले श्री देश राज मेहमी[4] ने बताया–''वर्ष, 2004 में संत रामानंद महाराज जी ने अचानक से उन्हें फोन किया और बोले–"आप फ्लाइट पकड़ कर सीधे डेरे (सच खंड बल्लां, जालंधर) आ जाओ मैं आप को किसी से मिलाना चाहता हूं।" वे अगली फ्लाइट से भारत आ गये। संत रामानंद ने उन्हें प्रोफेसर गुरनाम सिंह मुक्तसर से मिलवाया जो समाज में एक विद्वान के तौर पर स्थापित हो चुके थे। तीनों ने लगभग पूरी रात चिंतन-मनन किया कि किस प्रकार समाज

को आगे बढ़ाया जा सकता है? किस प्रकार विद्वानों-लेखकों की सेवाएं समाज हित में प्रयोग की जा सकती हैं? विद्वानों को संत रामानंद बहुत सम्मान देते थे। इन्होंने लेखकों से सतगुरु रविदास पर लेखन कार्य करवाया। वर्ष 2009 में सतगुरु रविदास के जन्मोत्सव के अवसर पर जब संत रामानंद ने यह गीत गाया—"चलो बनारस साध संगत जी एक इतिहास बनाना है। गुरु रविदास के मंदिर को सोने विच मढ़ोना है।" उपस्थित लोगों ने जितना सोना पहन रखा था उसे वहीं उतार कर श्री गुरु रविदास जन्म स्थान मंदिर, सीर गोवर्धनपुर, वाराणसी, के लिए दान कर दिया। लोग उन के किसी भी आह्वान को नकार नहीं सकते थे। संत रामानन्द लोगों से अपनापन रखते थे, उन से प्यार करते थे और उन की भावनाओं का सम्मान करते थे। उन की सक्रियता, समझदारी, प्रेमपूर्ण व्यवहार, आकर्षित कर लेने वाले प्रवचनों और जोशीले भाषणों से समाज में तीव्र गति से एकजुटता बढ़ती जा रही थी। संत रामानंद छोटे बच्चों से बहुत प्यार करते थे। श्रीमती सेलिना रंधावा[5] ने संत रामानंद महाराज जी के साथ बचपन बिताया है। वे उन में पूरी श्रद्धा रखती हैं। उन्होंने अपने बाजू पर हरि[6] का निशान बनवाया है।

वकील सतपाल विरदी[7] ने बताया—जब विश्व के सब से बड़े सत्संग भवन 'श्री गुरु रविदास सत्संग भवन' का निर्माण हो रहा था तो संत रामानंद दिन-रात अपनी सेवायें दे रहे थे। वे खुद भी काम में लग जाते थे इस से लोगों का हौसला बढ़ जाता था। लोग कहते थे आप आराम क्यों नहीं करते? वे कहते—"जितना समय महाराज जी की सेवा में लग जाए उतना ही अच्छा है।" वे अपने समय की कीमत को पहचान रहे थे और एक संदेश भी दे रहे थे कि जीवन एक ही है हम जितना काम कर सकते हैं उतना हमें करना ही चाहिए। श्री सुखदेव वाघमारे महाराज[8] ने बताया—''संत रामानंद की वाणी में मधुरता थी। वह प्रभावित कर लेते थे, उन में एक नूर था जिस से लोग आकर्षित होते थे। समूची कौम उन से प्रेम करती थी, उन का सम्मान करती थी, उन में बहुत श्रद्धा रखती थी। श्री मनदीप दास ने बताया—''संत रामानंद में कभी कोई भय और खौफ नहीं था। मृत्यु को वो जीवन का अकाट्य सत्य मानते थे। वो कहते थे मृत्यु तो सब को आनी है लेकिन मृत्यु भी ऐसी हो कि वह कौम और देश के काम ही आए।' संत रामानंद ने एक साप्ताहिक समाचार पत्र 'बेगमपुरा शहर'[9] निकाला। लोगों को लेखन और पठन के लिए प्रेरित किया। यह साप्ताहिक समाचार पत्र तीन भाषाओं में आता है—हिंदी, पंजाबी और अंग्रेज़ी। इन्होंने गुरु रविदास संगीत अकादमी की शुरुआत की। स्वयं बच्चों को संगीत सिखाया । श्री एस. एस. आजाद, श्री रवि शंकर जी, ओमकार जस्सी और अन्य कई नाम जिन्हें संत रामानंद से ही संगीत शिक्षा मिली और आज पूरे भारत और विश्व में इन की ख्याति बनी हुई है।[10] आज भी यह अकादमी नये-नये संगीतकार पैदा कर रही है। संत रामानंद में सतगुरु रविदास की विचारधारा को पूरे विश्व में फैलाने का जुनून था। वे सकारात्मक ऊर्जा से भरे रहते थे, उन की बुलंद आवाज में इतना उत्साह और आत्मविश्वास था कि वह मुर्दों में भी जान डाल दे। इन की सेवाओं के लिए 'भारतीय दलित साहित्य अकादमी' ने इन्हें पुरस्कृत किया था।

संत रामानंद तेज-तर्रार, कुशाग्र बुद्धि के धनी और कुशल प्रशासक के रूप में प्रसिद्ध थे। इन्होंने सतगुरु रविदास केंद्रित अनेक बहुस्तरीय परियोजनाओं को तल्लीनता, एकाग्रता, गंभीरता और समझदारी से पूर्ण करवाया था। वाराणसी (उत्तर प्रदेश) में जब बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी के पास श्री गुरु रविदास गेट बनना था तो कुछ असामाजिक तत्व विरोध कर रहे थे। तब, संत रामानंद ने उस वक्त के राष्ट्रपति डा. के. आर. नारायणन और बहुजन समाज पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष मान्यवर साहब कांशी राम के सहयोग और सूझबूझ से श्री गुरु रविदास गेट का विकट परिस्थितियों में निर्माण करवाया था।

श्री एफ. सी. मल[11] ने बताया कि एक समय था जब उन का मंदिर नहीं बना था। लेकिन वे सतगुरु रविदास के अनुयायी थे और उन का जन्मोत्सव भी मनाते थे। अप्रैल, 2001 में जन्मोत्सव के लिए उन्होंने डेरा सचखंड बल्लां से संत रामानंद को बुलाया था। लेकिन, अपनी जगह न होने के कारण यह उत्सव उन्होंने एक खुले पार्क में किया था। प्रोग्राम समाप्त होने के बाद संत रामानंद ने उन से कहा—"आप पार्क में अपने सतगुरु का जन्मोत्सव क्यों बना रहे हो? आप लोग मिल कर अपनी जमीन खरीद लो।" यह कह कर उन्होंने अपनी जेब से 5000/- रुपए और दक्षिणा में मिले लगभग 2500/- रुपए निकाल कर इन के हाथ पर रख दिए। इन को प्रोत्साहन मिल गया। संत रामानंद के निर्देश के अनुसार जमीन के लिए प्रयास शुरू कर दिया गया। उन को दो लाख में एक बड़ी जमीन मिल रही थी। लेकिन तब तक 1,07,000/- रुपए ही संकलित हो पाये थे। अभी भी एक लाख की कमी थी। उन्होंने सोचा सहयोग के लिए डेरा सचखंड बल्लां (जालंधर, पंजाब) में चलते हैं। इन को उम्मीद थी कि यहाँ से 5000/- रुपए के आस-पास मिल जायेंगे, यह बड़ा सहयोग होगा। ये डेरे पहुंचे वहाँ संत रामानंद से मिले जिन्होंने इन्हें डेरे के गद्दीनशीन संत निरंजन दास महाराज से मिलवाया। उन्होंने इन से पूछा—"अभी कितने की कमी है?" इन्होंने कहा—"जी, करीब एक लाख की।" संत रामानंद ने संत निरंजन दास महाराज से बात की और निर्णय हुआ कि जितनी कमी है

उतने दे दिए जाएं।" दिल्ली से गये सब लोग आश्चर्यचकित हो गये। कहाँ ये 5000/-रुपए की उम्मीद कर के आये थे और कहाँ इन को 1,00,000/- रुपए मिल गए। यह उन के लिए चमत्कार ही था। श्री एफ. सी. मल तो इतने अभिभूत हो गये कि उन्होंने बहुत समय तक महाराज के चरणों के ऊपर अपना सिर श्रद्धा से टिकाये रखा। मंदिर खरीद लिया गया। 24 जून, 2001 को मंदिर का उद्घाटन स्वयं संत रामानन्द ने किया। आज संत रामानन्द की शुरू की गयी अनेक संस्थाएं चल रही हैं। ऐसा उन्होंने अनेक स्थानों पर किया है। इसलिए उन को 'संस्था निर्माता' भी कहा जाता है।

संत रामानन्द को रविदासिया धर्म की व्यवस्थित चर्चा शुरू करने का श्रेय भी जाता है। 28 मार्च, 2007 को ब्रिटेन के हाउस ऑफ कॉमंस में भाषण देते हुए उन्होंने कहा—"पूरे संसार में गुरु जी के अनुयायियों में जबरदस्त इच्छा है कि खुद की एक पृथक पहचान स्थापित की जाए। पृथक धार्मिक पहचान बनाने के लिए निम्न चीजों की जरूरत है- 1. एक नाम 2. एक गुरु 3. एक तीर्थ स्थान 4. एक धर्म ग्रंथ 5. एक धार्मिक निशान (निशान साहिब) 6. एक नारा। यह अब बुद्धिजीवियों, विचारकों एवं धार्मिक संस्थाओं की जिम्मेदारी है कि वह इन चीजों पर खूब चर्चा करें और अंतिम निर्णय पर पहुंचे। यह काम जितनी जल्दी होगा उतनी ही जल्दी कौम का भला होगा।"[12] एक पृथक पहचान की लड़ाई हड़प्पा/मेलूख/सिंधु घाटी सभ्यता से, आजीवक आंदोलन से, सतगुरु रविदास से, सतगुरु कबीर, बाबू मंगूराम मुग्गोवालिया और स्वामी अछूतानंद से होते-होते संत रामानंद तक आ गयी थी। यह महत्वपूर्ण आन्दोलन था जिसे अब निर्भीक संत रामानंद ने प्रमुखता से उठा दिया था। एक पृथक पहचान का व्यवस्थित प्रयास पुनः शुरू ही हुआ था कि संत रामानंद की हत्या कर दी गयी। 24 मई, 2009 को ऑस्ट्रिया की राजधानी वियना में जब संत रामानंद 'श्रीगुरु रविदास सभा वियना' में संत निरंजन दास के साथ सत्संग में उपस्थित थे तब कुछ असामाजिक तत्वों ने उन पर अंधाधुंध गोलियों और करपान से हमला कर दिया। हमले में संत रामानंद और संत निरंजन दास गंभीर रूप से घायल हो गये। निहत्थे संतों पर यह कायराना हमला उस वक्त किया गया जब वहाँ बच्चों के लिए शिक्षा का प्रोग्राम हो रहा था। अगले दिन यानी 25 मई को संत रामानंद संसार को अलविदा कह गये। हवाई जहाज से उन का पार्थिव शरीर पंजाब (भारत) लाया गया। डेरा सच खंड बल्लां में ही उन के पार्थिव शरीर को संत सुरिंदा दास और संत सुरिंदर दास बावा ने मुखाग्नि दी। अनेक राजनेताओं, अधिकारियों और दो लाख से अधिक लोगों ने अपनी नम आँखों से उन्हें श्रद्धांजलि दी।

एक बार संत रामानंद गुरु रविदास दरबार, बैर्गमो, इटली में गये हुए थे। वहाँ लोगों ने उन से पूछा—"महाराज जी, हमारा समाज पूरी दुनिया में बड़ी संख्या में है। लेकिन क्या हमारी कभी अलग पहचान भी स्थापित होगी? क्या हमारा कभी अलग धर्म भी होगा?" संत रामानन्द ने कहा—"हमारी एक पृथक धार्मिक पहचान जरूर बनेगी। लेकिन धर्म बैठे रहने से नहीं मिलता है। इस के लिए शहादत देनी होती है। जब शहादत देने का वक्त आयेगा तो मुझे सब से आगे खड़ा पाओगे।" निर्भयता की ये वाणी उन्होंने अन्य जगह भी उच्चारित की थी। वर्ष 2005 में पंजाब में तलहण कांड हुआ था। उसी दौरान एक नौजवान श्री विजय कुमार (बूटा मंडी, जालंधर) को प्रशासन के लोगों ने गोली मार दी थी। उस की मृत्यु हो गयी थी। संत रामानंद उन के घर पर गम में शामिल होने गये। वहाँ लोगों ने उन से पूछा—"महाराज जी, हमारे समाज पर ऐसे अत्याचार या हमारा बहिष्कार या हमारी बहनों के साथ बलात्कार, ऐसी घटनायें कब तक होती रहेंगी?" संत रामानंद ने कहा—"हमें इन सब से मुक्ति पाने के लिए सामाजिक-राजनीतिक और धार्मिक आजादी प्राप्त करनी होगी।" लोगों ने पूछा—"आजादी कैसे मिलेगी?" उन्होंने कहा—"अपनी कुर्बानी से।" लोगों ने कहा—"महाराज जी, तो फिर ऐसे लोग तैयार करो जो शहीद होने के लिए तैयार हों।" संत रामानंद ने कहा—"शायद वह समय आ गया है जब इस की शुरुआत हमें खुद से करनी पड़ेगी।" और, इतिहास गवाह है कि उन्होंने अपने शब्दों को अमलीजामा पहनाया। किसी को पता भी नहीं था कि ये वाणी एक दिन हकीकत बनेगी। बैर्गमो, इटली में कही बात या श्री विजय कुमार के संस्कार दिवस पर कही बात आखिर में सच हो गई—"कौम को जगाने या अपने धर्म निर्माण के लिए शहादत देनी ही पड़ती है।" जैसा संत रामानन्द ने अपनी कुर्बानी के बारे में कहा था वैसा ही उन्होंने कर के दिखा दिया। सुखा राम सरोहा ने इसी बात को अपने गीत में गाया है कि कौम पर अपनी जान कुर्बान करना, सीने पर गोली खाना, और कही हुई बात को पूरा करना आसान काम नहीं है—

"जिंद कौम तों लुटानी एड्डी सोखी गल नहीं।
गोली सिने उत्ते खानी एड्डी सोखी गल नहीं।
गल कह के पगोनी एड्डी सोखी गल नहीं।"[13]

रविदासिया समुदाय में गहरा दुःख और क्रोध था। क्योंकि, उन के निहत्थे गुरु संत रामानन्द की गुरुघर में ही हत्या कर दी गई थी। किसी को किसी की जान लेने का हक नहीं है। कोई आपत्ति है या परेशानी है तो कानून है, पुलिस है और न्यायिक प्रक्रिया है, उस का सहारा लिया जा सकता है। अपने प्रिय गुरु की हत्या के प्रतिशोध में

बच्चे, महिलायें, बुजुर्ग सब लोग सड़कों पर आ गये थे। अपने गुरु के कत्ल पर भी घर से न निकलते तो ये लोग अपने समाज में कायर कहलाते। लोग अपनी जान हथेली पर ले कर मैदान में उतर गये थे। ऐसे वीरों को समाज बहुत सम्मान देता है। लोग झुक-झुक सलाम करते हैं- "जेड़े सुरमे मैदान विच नितरे, उनों सुरमा ताइं प्रणाम। जींद तली ते टिका के घरों निकले, करो झुक-झुक ओनानूं सलाम।।"[14] (हशमत हरजोत) श्री किशन नाथ महाराज[15] ने कहा—'आज तक हमारे लोग दूसरों के लिए कुर्बानियाँ देते रहे, लेकिन दूसरे लोगों ने उन की कुर्बानियों को कभी भी पूरा-पूरा सम्मान नहीं दिया। सतगुरु रामानंद महाराज जी ने अपनी कौम के लिए ही कुर्बानी दी है। हमें फक्र है उन पर।'

संत रामानंद की हत्या से रविदासिया समाज में भूचाल आ गया था। आँसुओं का सैलाब रुक नहीं रहा था। यह एक सदमा था जिस ने समुदाय को बहुत गहरे तक प्रभावित किया था। भावों के उद्‌गार गीतों के माध्यम से अभिव्यक्त हो रहे थे। दुःख की लहर दौड़ गयी थी, लोग रोये जा रहे थे। तब कंठ कलेर ने गाया बहुत रो लिया है, अब मत रोवो, क्योंकि संत रामानंद को गुरु रविदास जी ने अपनी आगोश में ले लिया है।

"ना रोवो, ना रोवो भतेरा रो लिया ए।
ओनु गुरु रविदास ने बकल विच लको
लिया ए।।"[16] (कंठ कलेर)

कौम चकोर पक्षी की भाँति उन का इंतजार कर रही है और गुरु रविदास से प्रार्थना कर रही है कि संत रामानंद को एक और जन्म के लिए भेज दीजिए—"संता खड़िया करण उडिकां, चंद नु जिवें चकोर। गुरु रविदास जी संत रामानंद एक जन्म लई भेजो होर।"[17] (अमृता विर्क) अमर अर्शी ने गाया—''हमेशा अमर रहेंगे बल्लां डेरे के संत। ऑस्ट्रिया के वियना शहर में उन्होंने अपनी जिंदगी पूरी की। "जुग-जुग दुनिया ते अमर रहेगा, डेरे बल्लां वाले संत। शहर विएना ऑस्ट्रिया दी राजधानी, पूरा कितना जिंदगी दा बंद"[18] (अमर अर्शी) संत रामानंद ने दलितों को शेर बनाया था। अलग पंथ की चर्चा फिर से शुरू की थी। समाज उम्मीद कर रहा था कि उन की आत्मा किसी और संत में आ जाए अर्थात उन जितना कार्य कोई अन्य संत भी करने लगे, क्यों कि अभी कुछ काम बाकी हैं। "दलितां नू शेर बनाया तूं, रविदासिया पंथ चलाया तूं। कुछ छोटे-मोटे काम रह गए, जो आप्पे आन मुका जा तूं। संत रामानंद जी रूहे नी, किसे होर संत विच आजा तूं।।"[19] (हशमत हरजोत) अनेक गायकों ने साधारण पंजाबी भाषा में अपने भावों का उद्‌गार किया है, जो यूटूब पर उपलब्ध भी हैं। "सुनाकर वाणी संत रामानंद बदल गए तकदीरां। काश कहीं वापस आ जाए कौम मेरी दा हीरा।"[20] (राज ददराल) "देखो मसीहा कौम दा दुनिया तों जा रहा है। सिर ऊंचा कर के जीना सब ने समझा रहा है।"[21] (एस. एस. आजाद) "संत रामानन्द तेरी मीठ्ठी वाणी, याद आवे पल-पल जी। असां भूल नी तेरी कुर्बानी जदों तक सां चलदी।।"[22] (रवि शंकर)

डेरा सचखंड बल्लां, जालंधर, पंजाब में प्रत्येक वर्ष 25 मई को संत रामानन्द का 'बरसी समागम' बनाया जाता है। इस दिन हजारों लोग डेरे में पहुंचते हैं और संत रामानन्द की समाधि पर नमन करते हैं। अनेक लोग वहाँ रोते हुए देखे जा सकते हैं। पूरे दिन सतगुरु रविदास की वाणी का जाप होता है। सभी श्रद्‌धालुओं के लिए लंगर की व्यवस्था होती है। अनेक नारों से डेरा गुंजायमान रहता है, जैसे—'कौम के अमर शहीद सतगुरु रामानंद महाराज की जय', 'सतगुरु रविदास शक्ति अमर है', 'जय गुरुदेव-धन गुरुदेव' आदि। मानवता की भलाई का संदेश दिया जाता है। पूरे विश्व की सुख-शांति के लिए अरदास करी जाती है। उन के अस्थि-कलश रविदासिया धर्म के तीसरे धर्म स्थान श्री गुरु रविदास मंदिर, कात्रज, पुणे, महाराष्ट्र में रखे गये हैं। उन के बलिदान दिवस पर समाज के लोग रक्तदान शिविर लगाते हैं। रक्त दान कर के ये मानव की सेवा करते हैं।[23] संत रामानन्द का भी यही संदेश था—"जितना हो सके इंसान को इंसान की मदद करनी चाहिए।" सुरेंद्र दास बाबा सही कहते हैं—"संत रामानंद जी महाराज हम से शारीरिक रूप से बिछड़ अवश्य गये हैं परंतु उन की सोच सदैव हमारा मार्गदर्शन करती रहेगी।"[24]

संत रामानंद की सोच पर अनेक रविदासिया समाज के गुरुद्वारे और धर्म स्थान स्थापित हो रहे हैं सभी लोग संगठित हो रहे हैं। जब भी कोई आयोजन होता है या किसी संस्था का वार्षिक उत्सव होता है या कोई विशेष प्रोग्राम होता है तो उस में संत रामानंद का जिक्र जरूर आता है। रविदासिया धर्म के करोड़ों अनुयायी हैं जो संत रामानंद के त्याग और बलिदान के लिए उन की प्रशंसा करते हैं। संत रामानन्द ने मानव मूल्यों और स्वाभिमान के लिए कुर्बानी दी इसलिए उन को अब 'कौम के अमर शहीद सतगुरु रामानंद महाराज जी' नाम से जाना जाता है। संत रामानंद एजुकेशन ट्रस्ट, दिल्ली संत रामानंद महाविद्यालय एवं अनुसंधान संस्थान, मध्य प्रदेश आदि जैसे संस्थान उन के नाम पर बनाये जा रहे हैं। प्रत्येक क्षेत्र में संत रामानंद की सोच विस्तार पा रही है। उस को लागू करने वाले लोग भी बढ़ते जा रहे हैं।

रविदासिया धर्म जैसा कि नाम से प्रतीत हो रहा है कि यह सतगुरु रविदास के विचारों पर विकसित हुआ धर्म है। सतगुरु रविदास के विचार ही इस के आदर्श हैं। रविदासिया धर्म का वर्ण रहित, श्रेणी रहित और मानवीय

समानता पर आधारित उत्कृष्ट धर्म सिद्धांत है।[25] रविदासिया धर्म का छोटा सा संविधान भी लिखा गया है जिस के अनुसार इस के अनुयायियों को आचरण करना है—हमारा महान तीर्थस्थान श्री गुरु रविदास जन्म स्थान मन्दिर सीर गोवर्धनपुर वाराणसी, उत्तर प्रदेश है। हमारा उद्देश्य सतगुरु रविदास जी की मानवतावादी विचारधारा का प्रचार करना है। इस के साथ-साथ महर्षि भगवान वाल्मीकि जी, सतगुरु नामदेव जी, सतगुरु कबीर जी, सतगुरु त्रिलोचन जी, सतगुरु सैन जी और सतगुरु सधना जी के बताये रास्तों पर चलना है। सभी धर्मों का सम्मान करना, मानवता के साथ प्रेम करना तथा सदाचारी जीवन व्यतीत करना है।"[26] इन नियमों को देख कर कहा जा सकता है कि यह धर्म किसी के विरोध में नहीं है, किसी को नीचा नहीं दिखाता, किसी से कोई भेदभाव नहीं करता; यह केवल मानव को मानवता के सिंहासन पर विराजमान करता है। श्री हरवंश शौंकि कहते हैं—"सतगुरु रविदास का अनुकरण करने वाले ही रविदासिया हैं। वैसे, उन का अनुकरण करने वाले तो उन के समय में भी थे। इसलिए मेरा मानना है कि सतगुरु रविदास के समय से ही लोग रविदासिया बनने लगे थे।" 'रविदासिया' एक व्यापक शब्द है। यह जाति और धर्म से इतर है। जो सतगुरु रविदास का अनुकरण करता है वही रविदासिया है, फिर चाहे वह किसी भी जाति, धर्म, स्थान, लिंग, नस्ल आदि का क्यों न हो। रविदासिया धर्म के सिद्धांतों की बात करें तो इस के सिद्धांतों में किसी को नकारा नहीं गया है, किसी को अलग नहीं रखा गया है, सभी का आह्वान किया गया है कि जो सतगुरु रविदास की विचारधारा को मानते हैं, उन का अनुसरण करते हैं वे सब इस धर्म में आ सकते हैं। सब के लिए इस धर्म के दरवाजे खुले हुए हैं।

रविदासिया धर्म किसी भी धर्म का अंग नहीं है। यह एक स्वतंत्र धर्म है। पंजाब की गायिका मिस पूजा ने एक एल्बम निकाला था, 'सारे कर लो एक्का बेगमपुरा बसोना'। उस के एक गीत में पंक्ति थी 'वखरा पंथ चलोना आ'। तब कुछ लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि ये एक अलग पंथ बनाने की कवायद शुरू हो रही है। लेकिन ऐसा नहीं है। ये सम्प्रदाय तो बहुत पहले से ही एक पृथक सम्प्रदाय है। अन्य धर्मों की कुछ अच्छी बातें इस धर्म से जरूर मिल सकती हैं; परंतु मूलतः यह एक स्वतंत्र धर्म है। रविदासिया धर्म किसी भी अन्य धर्म के खिलाफ नहीं है। यह बात इस धर्म के संविधान में ही दे दी गयी है। कुछ लोग सतगुरु रविदास को बौद्ध धर्म से जोड़ते हैं जो सही नहीं है। इधर बौद्ध धर्म पर कुछ अध्ययन आये हैं जिस से यह स्थापित होता है कि बौद्ध धर्म दलितों के ऐतिहासिक चिंतन से नहीं जुड़ता। उस के यहाँ भी पुनर्जन्म का दर्शन वैसे ही है जैसे ब्राह्मण धर्म और दर्शन में। वर्ण-व्यवस्था का विचार भी वैसे का वैसा ही है। फर्क सिर्फ इतना है कि उस में ब्राह्मण की जगह क्षत्रिय आ गये हैं।

सन्दर्भ

1. https://www-gururavidassguruji-com/satgururamanand-ji
2. नाम दान=नाम अर्थात एक शब्द; दान अर्थात दिया जाता है। उसी शब्द का मन में उच्चारण करते हुए, ध्यान लगाया जाता है।
3. https://mandeepnar.com/
4. गुरु रविदास इंटरनेशनल ऑर्गनायजेशन फोर ह्यूमन राइट्स, यूनाइटेड किंगडम के अध्यक्ष हैं।
5. यूनाइटेड किंगडम में रहती हैं। रविदासिया आंदोलन के लिए कार्य करती हैं।
6. श्री गुरु रविदास साधु सम्प्रदाय सोसायटी और रविदासिया कौम का निशान जो बाद में रविदासिया धर्म का धार्मिक चिह्न बन गया है।
7. 'अखिल भारतीय रविदासिया धर्म संगठन' के कानूनी सलाहकार हैं।
8. 'अखिल भारतीय रविदासिया धर्म संगठन' के राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं।
9. https://www.begumpurashaher.net/
10. https://mandeepnar.com/
11. श्री एफ. सी. मल, श्री गुरु रविदास मंदिर (के ब्लॉक, मंगोलपुरी, दिल्ली) के प्रधान हैं। दिल्ली में ही रहते हैं।
12. https://www.gururavidassguruji.com/
13. https://www.youtube.com/
14. https://www.youtube.com/
15. डेरा संत बाबा फूलनाथ, चेहडु, फगवाड़ा, कपूरथला, पंजाब के गद्दी नशीन हैं।
16. https://www.youtube.com/
17. https://www.youtube.com/
18. https://www.youtube.com/
19. https://www.youtube.com/
20. https://www.youtube.com/
21. https://www.youtube.com/
22. https://www.youtube.com/
23. https://www.bhaskar.com/news/
24. संत सुरिंद्र दास बावा पहले डेरा सच खंड (बल्लां, जालंधर) में थे, अब रविदासिया धर्म प्रचार केंद्र, कानपुर, जालंधर, पंजाब के अंतरराष्ट्रीय अध्यक्ष हैं।
25. रविदासिया धर्म एवं डेरा सच्चखंड बल्लां, सिरी राम अर्श, श्री गुरु रविदास जन्म स्थान, पब्लिक चैरिटेबुल ट्रस्ट, वाराणसी, उ. प्र., संख्या 2011, पृ. 37
26. अमृतवाणी सतगुरु रविदास महाराज जी, श्री गुरु रविदास जन्म स्थान मंदिर, सीर गोवर्धनपुर, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, सं. 2010, भूमिका

वृद्ध-मनोविज्ञान और उस के विविध पहलू

—डा. मनीष कुमार चौधरी

पिछले पचास वर्षों में वृद्ध-मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुए शोधों से कई आश्चर्यजनक तथ्य सामने आये हैं और पुरानी अनेक मान्याताएं टूटी हैं। परिवर्तन इतना अधिक हुआ है कि वार्धक्य पर प्रकाशित पुरानी पुस्तकें (उदाहरणार्थ, स्टैनले हाल,[1] एंडरसन,[2] या रिचर्ड विलियम्स[3] के ग्रन्थ) आज अपना महत्व खो चुकी हैं। सम्प्रति वृद्धावस्था उसे कहते हैं जब शरीर की प्रतिकार शक्ति कम हो जाती है और व्यक्ति अवकाश प्राप्त करने को बाध्य हो जाता है। वस्तुतः 'प्रौढ़त्व' या 'वृद्धत्व' एक अहसास है और यह अहसास सिर्फ व्यक्तिगत कल्पना-विलास पर निर्भर नहीं करता। यह निर्भर करता है उस समाज पर जो अपनी संस्थाओं और मान्यताओं द्वारा प्राणी को इसी धरती पर स्वर्ग या नर्क भोगने को विवश करता है। इसी दृष्टि से मनोवैज्ञानिकों ने तीन प्रकारों के वार्धक्य की चर्चा की है—शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक।[4] अन्य विकासशील देशों की तरह अपने देश में भी कुल मिला कर मानसिकता कुछ ऐसी है कि व्यक्ति समय से पहले ही अपने आप को बूढ़ा महसूस करने लगता है। सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भों में दायित्व बोध के कारण ऐसा होता है। इसी प्रकार विधवाएं, परित्यक्ताएं, भूमिहीन अथवा पिछड़ी जाति के लोग स्वस्थ रहने पर भी समाज में वह आदर नहीं पाते जिस के वे हकदार हैं। फिर देश कालजन्य सहनशीलता की परिधि पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है, क्यों कि अक्सर नयी पीढ़ी की सहनशीलता की सीमा रेखा स्वार्थों के दायरे से प्रभावित होती है, भावुकता के आवेग अथवा दार्शनिकता के सीमित क्षणों से नहीं। इस उपयोगितावादी, स्पर्धात्मक और अहंवादी समाज में प्रौढ़ आश्रितों के लिए परिवार, समाज और प्रशासकीय संस्थाओं में कितनी जगहें हैं, इस पर बहुत कुछ निर्भर करता है।

वृद्ध-मनोविज्ञान के अनेक पहलुओं पर शोध हुए हैं। महत्वपूर्ण शोधकार्यों में एरिक्सन के अलावा जेम्स बिरेन, डैनियल लेविन्सन और बर्निस न्यूगार्टन के अनुसंधान प्रासंगिक हैं। वृद्धावस्था की सब से बड़ी कठिनाई आदमी का अनुपयोगी हो जाना है। अनुपयोगिता का एहसास एक वृद्ध को जहाँ गतिशील सामाजिक जीवन से काट कर रख देता है, वहीं उस के सामने सम्मान के साथ जीवन व्यतीत कर ने की समस्या आ खड़ी होती है। व्यक्तित्व के विघटन

का दौर तभी से शुरू होता है जब उस के अपने परिवार के लोग उसे फालतू और बेकार समझ कर उस से बेलौस व्यवहार शुरू कर देते हैं। तब न केवल उस की मानसिकता चूक जाती है, बल्कि वह तजुर्बों का ताबूत बन कर रह जाता है जिस में उसकी संतति-परम्परा आधुनिकता की कीलें ठोंक देती हैं। ऐसा विशेषतः उस समय होता है, जब चुकती हुई शारीरिक क्षमताओं के साथ उसे अपनी तोला-भर जान बचाने की फिक्र इस भाग-दौड़ के युग में सीमित आर्थिक व्यवस्थापकीय साधनों द्वारा अक्सर अकेले करनी पड़ती है। जिस परिवार में वह रहता है, वहाँ मानव निर्मित हर संस्था की तरह अस्तित्व से ले कर सत्ता तक की राजनीति है— चाहे वह सम्पत्ति के लिए हो अथवा अभावों को मिल कर बाँटने के क्रम में मिले हिस्से को ले कर विवाद के रूप में। जो परिवार सही तौर पर संयुक्त नहीं भी है, वहाँ नये सवाल खड़े होते हैं जो मूलतः मनोवैज्ञानिक हैं। पीढ़ियों के प्रश्न, स्त्री-पुरुष के संबन्धों के संतुलन से उठे प्रश्न, तेजी से बदलती ह्रासमान व्यवस्था में व्यक्ति के नैतिक मूल्यों के समायोजन के प्रश्न आदि। नकाबपोशी के इस दौर में ये सभी प्रश्न इतने अव्यक्त और घटना-सापेक्ष रूप में उभरते हैं कि इन की सर्वसम्मत व्याख्या सिर्फ प्रशिक्षित मनोविश्लेषक ही दे सकते हैं। आम आदमी के वश की बात नहीं है। फलतः, अनुभवी से अनुभवी प्रौढ़ व्यक्ति भी अहंवादी व्यक्तिवाद की उमस में मूक द्रष्टा बना बैठा है और जितनी जल्दी हो सके उस से कतराना चाहता है। बोलने से पहले अपनी हैसियत को तौलने की शर्त इस दुनिया में युगों से रही है। घर के बाहर सरकारी, गैरसरकारी नौकरियों में आज बोलने से पहले अपनी सम्पूर्ण इयत्ता को बार-बार तौलने का मानसिक द्वेष हर परिवार में झेला जा रहा है और इस के सबसे बड़े शिकार हैं—घर के कोने में पड़े वृद्धजन। चुप्पी की घुटन वृद्धावस्था की सब से बड़ी व्याधि है और सन्दर्भहीनता सब से बड़ी ग्लानि।

समकालीन साहित्य में इन परिस्थितियों का प्रभावशाली चित्रण मिलता है। डा. गिरिराज शरण ने वृद्धों-वृद्धाओं की मानसिकता, दुविधाओं और पीड़ा का चित्रण करने वाली सत्रह कहानियों का संकलन प्रस्तुत किया है[5] जिसे पढ़ने पर अमृत राय (क्योंकि वे बूढ़े हैं), उषा प्रियम्वदा (वापसी), गोविन्द मिश्र (घेरे), ज्ञानरंजन (पिता), नरेन्द्र कोहली (शदल), मंजुल भगत (दादी का बटुआ), राम कुमार भ्रमर (मोहताज) तथा सूर्यबाला (सौगात) जैसे कहानीकारों का साक्षात्कार होता है। वृद्धों-वृद्धाओं के दर्द को आवाज देने का काम आधुनिक साहित्य ने बखूबी किया है। फलतः, उन की अस्तित्वात्मक स्थिति को चित्रित करने वाले अनेक शब्द-चित्र सामने आये हैं।[6] मनोविज्ञान का काम और गहराई में जाना है—परिस्थितियों के दोष चित्रित करने की अपेक्षा उन्हें समझने का प्रयत्न करना है। उसे प्रतिक्रियाओं की वैज्ञानिक व्याख्याएं भी प्रस्तुत करनी पड़ती हैं। अपने दायित्वों में इस दृष्टि से समकालीन मनोविज्ञान को काफी सफलता मिली है। ऊंचे स्तर के साहित्य सृजन में साहित्य कभी-कभी मनोवैज्ञानिक शोध-निष्कर्षों से बहुत आगे चला जाता है। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने ठीक ही कहा है कि उच्चस्तरीय साहित्य में 'तटस्थ मनोवैज्ञानिक चित्रण'[7] असामान्य की अपेक्षा ज्यादा होता है। साहित्य, मनोविज्ञान और मनोविलेष्णात्मक आलोचना—तीनों वस्तुनिष्ठता के बिन्दु पर मिलते हैं तथा एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। मेरी समझ से वृद्ध मनोविज्ञान के पहलुओं की सही खोज इसी अपेक्षा के साथ शुरू होती है।

एरिक्सन और उन के सहयोगियों ने सतत् सर्वेक्षण और प्रयोग करने के बाद यह सत्यापित किया कि अनुपयोगिता का अहसास सचमुच ढलती उम्र का सब से बड़ा दंश है। स्त्री हो या पुरुष, व्यक्ति के जीवन में एक ऐसी अवस्था आती है, जब उस की खुद की उपलब्धियाँ सिर्फ एक सीमा तक ही आह्लाद प्रदान कर पाती हैं। यह ऐसा समय होता है जब व्यक्ति अपना व्यक्तित्व, अपने विचार, अपनी मान्यताएँ, अपना मूल्य-बोध और अपने अनुभव उन्हें देना चाहता है जो अपने लगते हैं। एरिक्सन इस भाव को 'जेनरेटिविटी' की संज्ञा देते हैं, जो ढलती उम्र के साथ-साथ बढ़ता जाता है और जिसे हम व्यक्ति के अंदर के अभिभावक, शिक्षक और पर्यवेक्षक में परिलक्षित पाते हैं। अनुपयोगिता का बोध तथा अपनी मान्यताओं और अनुभवों को न बाँट पा सकने की विवशता ढलती उम्र में अनेक कुंठाओं को जन्म देती है किन्तु जिन्हें अपने अन्तर के अभिभावक, शिक्षक और पर्यवेक्षक को जाग्रत रख पाने का परिवेश प्राप्त है वे और सुदृढ़ व्यक्तित्व ले कर विकसित होते हैं।

चुकती हुई शारीरिक क्षमताओं और अनेक सामाजिक, आर्थिक और व्यवस्थापकीय अड़चनों तथा मानसिक संत्रासों की सिकुड़ती हुई परिधि में वृद्ध व्यक्ति को निर्णय लेने पड़ते हैं। उसे शरीर को व्यवस्थित कर के रखना पड़ता है, फूंक-फूंक कर चलना पड़ता है और सोच-समझ कर अपनी स्थिति जान कर बोलना पड़ता है। अक्सर ये निर्णय बिना साथी सहारे के एकाकी लेने पड़ते हैं, फलतः उन का जीवन-यापन बहुत कुछ संगत निर्णय-शक्ति की क्षमता पर निर्भर करता है। अपने प्रगाढ़ जीवनानुभावों की पूंजी के आधार पर व्यक्ति वृद्धावस्था में निर्णय लेने का प्रयत्न करता है। अध्ययनों से पता चला है कि आमतौर पर वृदध-वृद्धाओं के लिए यह एक मौन किन्तु अतिशय त्रासदायक प्रक्रिया है। विश्वविद्यालय की प्राध्यापिका बर्निस न्यूगार्दन ने 1954 से 1964 के बीच और येल

विश्वविद्यालय के मनोचिकित्सक डेनियल लेविसन ने 1978 में इस प्रक्रिया को समझने के प्रयत्न किये हैं।[8]

वृद्धावस्था में इन प्रतिक्रियाओं से जूझना अत्यन्त दूभर हो जाता है। किन परिस्थितियों में कौन रूख अख्तियार करेगा यह अब तक के विकसित व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। एरिक्सन के बाद के विचारक न्यूगार्टन, लेविंसन आदि यह मान कर चलते हैं कि आदमी के व्यक्तित्व का विकास निर्णायक रूप में 'मिड-लाइफ क्राइसिस' के बाद पैंतीस-चालीस की अवस्था के दरम्यान हो जाता है, जबकि एरिक्सन के अनुसार एक वृद्ध व्यक्ति में इन परिस्थितियों में समर्थ निर्णय ले पाने की ताकत उस के सम्पूर्ण जीवन की सफलता-विफलता के समग्र आलेख पर निर्भर करती है। वृद्धावस्था की जिजीविषा इस प्रकार अन्ततः 'इगो-इंटीग्रिटी' पर निर्भर करती है, आर्थिक स्वावलम्बन और शारीरिक स्वास्थ्य पर उतनी नहीं जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है। 'इगो-इंटीग्रिटी' का अधूरापन वृद्ध व्यक्तियों पर बहुत प्रभाव छोड़ता है इस का निरूपण एरिक्सन ने किया है।

मनोविश्लेषण के आधुनिकतम विकास की दृष्टि से साहित्य में वृद्ध-मनोविज्ञान का अध्ययन मूलतः रचनाओं में वर्णित वृद्ध-पात्रों की मनोसामाजिक अस्तित्वात्मक स्थिति की खोज के रूप में फलदायी हो सकता है। ''इगो-इंटीग्रिटी' की पड़ताल या दूसरे शब्दों में वृद्ध-पात्रों की जिजीविषा और अस्तित्व-बोध की खोज, एक ओर जहाँ वृद्ध-मनोविज्ञान के मूल विषय के रूप में उभरी है वहीं दूसरी ओर मनोविलेशषणात्मक साहित्यलोचन में भाषा, कथानक और संवाद के माध्यम से पात्रों की अस्तित्वात्मक स्थिति का विश्लेषण महत्वपूर्ण हो गया है। पहली परम्परा 1950 के दशक में एरिक एरिक्सन के जीवन-चक्र (लाइफ सायकिल) के सिद्धान्तों द्वारा निर्मित हुई, तो दूसरी परम्परा इसी दशक में जैक लकान के उत्तर-संरचनावादी मनोविश्लेषणात्मक साहित्यलोचन से। दोनों परम्पराएं फ्रायड से प्रभावित हैं, पर उन में मनोरुग्णता के एकांगी मोहजाल से यथोचित मुक्ति परिलक्षित होती है। दोनों में जीवन की वृत्तियों और क्रियाकलापों के प्रति आशावाद और सृजनात्मकता के प्रति आकर्षण है। मनोरुग्णता के एकांगी मोहजाल से मुक्ति और सृजनात्मकता के प्रति रुचि पिछले कई दशकों के वृद्ध मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण और फलतः मनोविश्लेषणात्मक साहित्यालोचन की सर्वाधिक लक्षणीय प्रवृत्तियाँ हैं। मनोविज्ञान का यह नया मोड़ ही वह प्रमुख कारण है जो मनोविज्ञान को साहित्य-समीक्षा के करीब लाता है। पिछले सौ वर्षों से मनोविश्लेषण के क्षेत्र में हो रहे शोधों को यथासंभव आत्मसात् कर के ही इस के सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य को रेखांकित किया जा सकता है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, हिन्दी में इस प्रकार का प्रयत्न डा. देवराज उपाध्याय ने किया था, पर कई कारणों से बाद में हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा में इस प्रकार का प्रयत्न नहीं हुआ। हाल के वर्षों में मनोविश्लेषणात्मक साहित्यालोचन ने यथेष्ट परिपक्वता प्राप्त कर ली है। अब असामान्य अथवा मनोरुग्ण पात्रों के विश्लेषण के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक सत्य के आधार पर रचित पात्रों की समीक्षा भी पूरी दक्षता से की जा सकती है।

संदर्भ

1. हाल, जी. स्टैनर्स एवं सेनी सेन्सः द लास्ट हाफ ऑफ लाइफ, पृ. 992
2. साइकोलॉजिकल आस्पेक्टस ऑफ एजिंग, अमेरिकन साइकोलॉजिकल असोसिएशन, खण्ड-2, पृ. 963
3. प्रोसेस ऑफ एजिंग, सोशल एण्ड साइकोलॉजिकल पर्सपेक्टिव, खण्ड-2, पृ. 196
4. साइकोलॉजी ऑफ एडल्ट डेवलेपमेंट एण्ड ऐजिंग ''एक्चुअल रिव्यु ऑफ सॉइकोलाजी पृ. 543-75
5. शरण, डा. गिरिराज (सं) : वृद्धावस्था की कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
6. यादव, राजेन्द्र : 30 सितम्बर 1991 के इंडिया टुडे में प्रकाशित कथन, पृ. 53
7. वाजपेयी, नन्द दुलारे : प्रेमचंद, साहित्यिक विवेचन, पृ. 158
8. लेविस, डी. जे. : द सीजन्स ऑफ ए मैन्स लाइफ, पृ. 78

(लेखक का विगत 15 वर्षों से वृद्धावस्था की समस्या पर शोध एवं निरंतर लेखन।)

डा. मनीष कुमार चौधरी असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, दौलतराम कॉलेज, दिल्ली श्विविद्यालय दिल्ली,

ई मेल : drmkcdu@gmail.com,

मो. 9810809055

स्मृतियों के आइने में
(गाजीपुर में क्रिस्टोफर कॉडवेल)

—डा. राजकुमार राजन

इतिहास में तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर अपने-अपने दृष्टिकोण से लिखा-पढ़ा जाता रहा है। मनुष्य की स्मृतियाँ सच के ज्यादा करीब होती हैं। उन्हें हम जीते हैं। ये स्मृतियाँ हमारे जीवन का वह यथार्थ होती हैं जिसे हम कभी न कभी जिये होते हैं या भोगे हुए होते हैं। भोगा हुआ अनुभव सच का प्रमाण है। 'गाजीपुर में क्रिस्टोफर कॉडवेल' उर्मिलेश द्वारा सृजित 'आत्मकथात्मक संस्मरण' है। उर्मिलेश जी लम्बे समय तक पत्रकारिता से जुड़े रहे हैं। उन की मूल्यपरक पत्रकारिता, उन का साहित्यिक प्रेम और उन की सामाजिक न्याय की पक्षधरता उन के व्यक्तित्व को सामान्य से ऊपर उठाती है। 'राहुल सांकृत्यायन : सृजन और संघर्ष' जैसे पुस्तक के रचनाकार की स्मृतियों का यथार्थ उन की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'गाजीपुर में क्रिस्टोफर कॉडवेल' में लिपिबद्ध हुई है। गाजीपुर में क्रिस्टोफर कॉडवेल पुस्तक जो उन की 'आत्मकथा' सी लगती है, सामान्य रूप से उस मध्यवर्गीय संघर्षशील युवक के जीवन का यथार्थ हो जाती है जो आज भी गाँव से पलायन कर शहर में अपने अस्तित्व की खोज में प्रयत्नशील हैं। यह आत्मकथात्मक संस्मरण उस मध्यवर्गीय युवक के यथार्थ की खोज का एक रेखाचित्र है।

उर्मिलेश ने अपनी पुस्तक की भूमिका में अपने मंतव्य को व्यक्त करते हुए लिखा है—''मैं समझता हूं स्मृतियों से मनुष्य ने काफी सीखा और अपने को संवारा है। स्मृतियों ने हमारे सभ्यतागत मूल्यों का परिष्कार भी किया है। मनुष्य को सच के साथ खड़ा होने का साहस दिया है।''[1] उर्मिलेश मूलतः पत्रकार एवं साहित्य प्रेमी हैं। उन के जीवन का अनुभव संसार मनुष्य के जीवन का वह यथार्थ है जो अपने सामाजिक स्तरीकरण में संघर्षशील है। उन का यह संस्मरण सिर्फ उन का ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति में बन रही आज एक नयी सामाजिक पहचान जिसे राजनैतिक शब्दावली में 'बहुजन' के नाम से परिभाषित किया जा रहा है, उस का है। उन के जीवन संसार का अनुभव गाँव से शहर, साहित्यिक-बौद्धिक समाज से मीडिया तक का है। मीडिया के भीतर होने वाले विभिन्न अंतर्विरोधों का उद्घाटन पुस्तक को अद्वितीय बनाती है। आज हम जिन सामाजिक चुनौतियों से जूझ रहे हैं, उन में नव-सामंतवाद और घोर जातीय भेदभाव की मानसिकता है।

गाजीपुर में क्रिस्टोफर कॉडवेल में सामाजिक न्याय के संघर्ष का यथार्थ है। इस पुस्तक को पढ़ते हुए आप भी उर्मिलेश के संघर्ष के सहयात्री हो सकते हैं। उन का संघर्ष सिर्फ उन का ही नहीं है बल्कि उन सभी का है जो स्वयं लेखक जैसा है। पुस्तक के लेखक स्वयं बहुजन समाज से जुड़े हुए वामपंथी विचारक हैं। यह सब कुछ पुस्तक में है।

पुस्तक में उन्होंने एक वाकये का जिक्र किया है जो जे. एन. यू. में उन के एडमिशन से संबंधित एक तकनीकी समस्या से जुड़ा हुआ है। वे अपनी समस्या ले कर एक वामपंथी प्रोफेसर के पास गये। उन तत्कालीन वामपंथी प्रोफेसर की प्रतिक्रिया के बारे में उन्होंने लिखा है—''आप तो स्वयं वामपंथी हैं और यह जानते हैं कि आप और हमारे जैसे लोगों के लिए जाति-बिरादरी के कोई मायने नहीं होते। पर भारतीय समाज में सब किसी न किसी जाति में पैदा हुए हैं। आप तो ठाकुर हो न?''[2] उन्होंने अपना उत्तर नहीं में दिया था। जाति जानने की यह जिज्ञासा साहित्य के दो मूर्धन्य आचार्यों का था जो अब इस दुनिया में नहीं हैं। उर्मिलेश ने उस साल जे. एन. यू. की प्रवेश परीक्षा तो पास की थी, लेकिन एडमिशन लेने में कुछ अड़चनें आ रही थीं। अपनी इसी समस्या के समाधान के लिए उर्मिलेश जे. एन. यू. के दो आचार्यों से मिलने गये थे। अंततः उन के दाखिले के दावे को रद्द कर दिया गया था।

ऐसी बहुत सी घटनायें हैं जिस से लेखक के जीवन का संघर्ष बहुजन संघर्ष में बदल गया और आज यह जीवन के कई पड़ावों से होते हुए मीडिया तक पहुंचा है। इस पुस्तक में 'हमने इस महादेवी को देखा था' से ले कर 'किसे धोखा दे रहे हैं सदी के महानायक' तक कुल 12 जीवंत संस्मरण हैं। लेखक के लिए, महादेवी वर्मा से ले कर अमिताभ बच्चन तक की स्मृतियों की यह संस्मरणात्मक यात्रा, कुछ हद तक सुखद तो बहुत हद तक पीड़ादायी रही है। इन संस्मरणों के बारे में लेखक ने लिखा है—''इस पुस्तक की संस्मरणात्मक कथायें ऐसे ही लोगों, घटनाओं और क्षणों को ले कर हैं। इन में आये सभी लोगों से मेरी निकटता रही हो, ऐसा बिल्कुल नहीं। पर किसी न किसी तरह इन सभी लोगों से मेरा संबंध रहा और इन्होंने मुझे अलग-अलग ढंग से प्रभावित भी किया।''[3] एक बड़े व्यक्तित्व के जीवन का अनुभव अन्यों के लिए कितना प्रेरणादायी होता है। इस पुस्तक को पढ़ कर जाना एवं समझा जा सकता है।

एक दिन इलाहाबाद कैंपस में एक भयानक घटना होती है। कुछ बेहद जरूरी और प्रासांगिक मुद्दों को ले कर आंदोलनरत छात्रों पर भीषण पुलिस लाठीचार्ज होता है। यह घटना इस पुस्तक के रचनाकार के जीवन संघर्ष का प्रारम्भिक चरण है, जब वे किसी अन्याय के विरुद्ध खड़े होते हैं और न्याय के पक्ष को मजबूत करते हैं। 'हमने इस महादेवी को देखा था' में महादेवी वर्मा के साहित्यिक व्यक्तित्व का जो रेखांकन उन्होंने किया है उस में महादेवी वर्मा छात्रों के संघर्ष के साथ खड़ी होती हुई दिखती हैं जिन से वे काफी प्रेरित और प्रभावित हैं। 'प्रेम, करुणा और तकलीफ का उमड़ता समंदर' जे. एन. यू. का संस्मरण है। जे. एन. यू. उच्च शिक्षा का बड़ा संस्थान है। देश के विभिन्न क्षेत्रों के छात्रों के लिए वहाँ दाखिला पाना बड़े गर्व की बात है। ऐसे संस्थानों में प्रवेश पा लेना मात्र व्यक्तिगत मामला नहीं है। यह सामाजिक मामला भी है। जहाँ से आप होते हैं, वहाँ के लिए आप दूसरों के लिए प्रेरणादायी होते हैं। जे. एन. यू. में दूर-दराज के गाँवों से आने वाले लोग वहाँ के लोगों को बराबर प्रेरित करते हैं।

लेखक का जे. एन. यू. में दो बार दाखिला होता है, पहली बार प्रवेश रद्द होने के बाद दूसरी बार वे पुनः प्रवेश पाते हैं। ये वे दो घटनायें हैं जो उन के सामने साहित्यिक समाज में व्याप्त जातिवादी चरित्र को उद्घाटित कर गयीं। दो मार्क्सवादी आचार्यों द्वारा उन की जाति के बारे में पूछताछ करना उन्हें चकित कर गया। उन्होंने लिखा है—''मैं चकित था कि जे.एन.यू. के दो वरिष्ठ प्रोफेसरों की अचानक मेरी जाति जानने में ऐसी क्या दिलचस्पी हो गई।''[4] पुस्तक को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि प्रो. नामवर सिंह से लेखक के रिश्ते अच्छे नहीं रहे। प्रो. नामवर सिंह का अतीत लेखक को दूर तक पीछा करता है। उन की खट्टी-मिट्ठी यादों को लेखक ने अपने संस्मरणों में जगह दी है। लेखक ने बाबा साहेब डा. अम्बेडकर के इस वक्तव्य से अपनी सहमति जाहिर की है कि 'वर्ण-व्यवस्था/जाति-संरचना हिंदुओं को वास्तविक राष्ट्र बनने से रोकती है।'[5] हिंदी के एक दूसरे बड़े लेखक राजेन्द्र यादव को उन्होंने सबाल्टर्न साहित्य के एक विचारक के रूप में याद किया है। उन्होंने राजेन्द्र यादव को हिंदी में दलित, आदिवासी और स्त्री विमर्श को लाने का श्रेय दिया है। लेखक ने राजेन्द्र यादव को जिस तरह से याद किया है उस से लगता है कि दोनों की वैचारिकी एकमेक हो गयी है। राजेन्द्र यादव के स्त्री-विमर्श को लेखक ने बहुत ही गंभीर माना है। लेखक ने इस बात से दुःख व्यक्त किया है कि इतने महत्वपूर्ण योगदान के बावजूद राजेन्द्र यादव को यादववादी से ले कर नक्सली, धर्म-विरोधी और नास्तिक आदि कह दिया गया।

उर्मिलेश जी स्वयं एक बड़े पत्रकार हैं और विभिन्न मीडिया हाऊस से लम्बे समय तक जुड़े रहे हैं। उन्होंने लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ कही जाने वाली मीडिया का जातिवादी सच भी उजागर किया है। उन्होंने मीडिया हाऊस के अन्दर के लोकतंत्र की भयावहता का जो उल्लेख किया है, वह बहुत ही पीड़दायी है। मीडिया का एक हिस्सा जहाँ जातिवादी व्यवस्था से संचालित होता है, तो दूसरा राजनीति तंत्र से। उन्होंने लिखा है—''प्रबंधन में ऊपर के पदों पर बंगाली ब्राह्मण, बिहारी ब्राह्मण, भूमिहार, राजपूत और कायस्थ, इन्हीं बिरादरियों के अफसर थे। इन के बीच भी शीतयुद्ध चलता रहता था। कई बार इन का मनमुटाव खुल कर सामने आ जाता था।''[7] यह जातिवादी संकीर्णता अन्ततः राष्ट्र के लिए हानिकारक है। 'पत्रकारिता

में हमारे पहले दफ्तर के लोग' अध्याय का यही केन्द्रीय भाव है।

'गाजीपुर में क्रिस्टोफर कॉडवेल की आवाजें'—यह पुस्तक का एक केन्द्रीय अध्याय है। गाजीपुर पूर्वी उत्तर प्रदेश का एक पिछड़ा जिला है। लेखक का जन्म भी इसी गाजीपुर जिले में हुआ है। यह जिला उत्तर प्रदेश और बिहार की सीमा के बहुत समीप स्थित है। यहाँ की प्रमुख भाषा भोजपुरी व हिन्दी है। यह जिला हथकरघा तथा इत्र उद्योग के लिए भी जाना जाता है। लॉर्ड कार्नवालिस जो ब्रिटिश भारत के गवर्नर थे, उन की मृत्यु यहीं हुई थी। गाजीपुर में अंग्रेजों द्वारा स्थापित एशिया के सब से बड़े अफीम के कारखाने थे। पी. एन. सिंह गाजीपुर के अंग्रेजी के प्रोफेसर थे। उन्होंने क्रिस्टोफर काडवेल की पुस्तकों पर पीएच. डी. की थी। क्रिस्टोफर काडवेल ब्रिटेन के रहने वाले मार्क्सवादी चिंतक थे। वे स्पेन में फासिस्टों से लड़ते हुए महज 29 वर्ष की आयु में ही शहादत को प्राप्त हो गये थे। मृत्यु उपरांत उन की पुस्तकों का प्रकाशन संभव हुआ। कॉडवेल मानव मुक्ति के वैश्विक वैचारिकी के नायक थे। उन्होंने ऐसे नायक के ऊपर शोध कर ने के लिए गाजीपुर के पी. एन. सिंह को सम्मानपूर्वक याद किया है। ऐसा जान पड़ता है कि कॉडवेल की वैचारिकी से स्वयं पुस्तक के रचनाकार बहुत प्रभावित हैं। इसलिए पी. एन. सिंह के बहाने कॉडवेल की रचनाधर्मिता की चर्चायें विस्तार से की गयी हैं।

सृजनशीलता और प्रतिबद्धता का खामोश चेहरा बहुजन चिंतक तुलसी राम हैं। 'मुर्दहिया' तुलसी राम की आत्मकथा है जिस से पता चलता है कि उन का जीवन कष्टों व पीड़ा के झंझावतों से निर्मित हुआ है। उन की आत्मकथा 'मुर्दहिया' की तुलना 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' से की जा सकती है। तुलसी राम का जीवन संघर्ष भारतीय सभ्यता की असलियत का एक पहलू है, जहाँ आज भी दलितों के साथ भेदभाव बदस्तूर जारी है। उर्मिलेश ने लिखा है—''आसपास के उच्चवर्णीय हिंदुओं की नजर में उन की जाति और उन का परिवार 'अछूत' और 'नीच' था। उस परिवार में अत्यंत उपेक्षित और निम्न स्तर के प्राणी थे तुलसीराम।''[7] 'गाजीपुर में क्रिस्टोफर कॉडवेल' के लेखक को बड़ा आश्चर्य लगता है कि जे. एन. यू. जैसा संस्थान जो वामपंथ व प्रगतिशील विचारों का गढ़ रहा है, वहाँ दलितों-पिछड़ों के समुदाय के शिक्षकों की अनुपस्थिति कभी कोई केन्द्रीय मुद्दा नहीं बनी। इस तरह लेखक ने वामपंथी राजनीति पर बड़ा प्रश्नचिन्ह खड़ा किया है।

'मी-टू प्रकरण' में एम. जे. अकबर का उल्लेख है। सत्ता अति महत्त्वाकांक्षी मनुष्य के व्यवहार को किस हद तक अनियंत्रित कर देती है, अकबर के व्यक्तित्व से लक्षित होता है। 'प्रेमपति का वामपंथ' में वामपंथी राजनीति का वर्णन है। प्रेमपति स्वयं वामपंथी थे जो 'मंडल रिपोर्ट' के समर्थक थे। इसलिए उन के प्रति वामपंथियों का व्यवहार उपेक्षापूर्ण था। इस से लेखक को बहुत हैरानी होती थी। कश्मीर संवाददाता के रूप में कार्य करते हुए लेखक का संस्मरण यहाँ जीवंत हो उठता है। उन्होंने लिखा है—''शुजात की रहस्यमय हत्या सिर्फ कश्मीरियों के लिए पहेली नहीं है, बल्कि तमाम भारतीयों और पत्रकारों के लिए गहरी चिंता और तकलीफ का सबब भी है।''[8] शुजात की मौत आज भी रहस्यमय बनी हुई है। शुजात का संस्मरण बहुत दुःखद है। 'सदी के महानायक' अमिताभ बच्चन पर कुछ नोट्स' में उन फिल्मी कलाकारों पर टिप्पणी है जो ज्वलंत सामाजिक मुद्दे पर भी मौन रहते हैं। अमरीका और यूरोप में एक कलाकार की सामाजिक-राजनीतिक भूमिका भी होती है, यह हमारे यहाँ क्यों नहीं है, जैसे प्रश्न पुस्तक के अन्तिम अध्याय में स्पष्ट रूप से ध्वनित होते हैं। उर्मिलेश, बच्चन जैसे व्यक्तित्व से बहुत उम्मीद रखते हैं लेकिन उन्हें बहुत दुःख होता है कि वे गरीबों और उपेक्षितों के पक्ष में खड़े नहीं होते। उन्होंने लिखा है—''वास्तविक जीवन में वह उन गरीबों-उत्पीड़ितों के पक्ष में नहीं दिखना चाहते। लेकिन पर्दे पर उन्हीं पात्रों के किरदार निभा कर 'सदी के महानायक' होते हैं।''[9]

'गाजीपुर में क्रिस्टोफर कॉडवेल' उर्मिलेश की संस्मरणात्मक पुस्तक है। स्वयं लेखक जीवन में जिन झंझावातों से जूझा है, वह झंझावत मात्र उन का अपना नहीं है, बल्कि भारतीय समाज के एक बड़े हिस्से का है। भारतीय सामाजिक जातीय संरचना का यह अभिशाप है। यह अभिशाप उन जैसे करोड़ों 'बहुजन' प्रतिभाओं का है जो अपनी अस्मिताओं की तलाश में कहीं खो जाते हैं। 'गाजीपुर में क्रिस्टोफर कॉडवेल' उन पीढ़ियों को सचेत करती है, जो पीढ़ी अपनी अस्मिता की खोज में आज भी संघर्षरत हैं।

संदर्भ

1. 'गाजीपुर में क्रिस्टोफर कॉडवेल' भूमिका से।
2. वही, पृ. 47. 3. वही, भूमिका से 4. वही, पृ. 15. 5. वही, पृ. 47. 6. वही, पृ. 108.
7. वही, पृ. 178. 8. वही, पृ. 218.
9. वही, पृ. 224.

राज कुमार राजन
सहायक प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग
शहीद भगत सिंह कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

किसान

किसान अन्न दाता है
देश का विधाता है
बचपन से सुन रही हूं
मेरी आँखों के कैमरे में
घूमती है कई तस्वीरें
प्रेमचन्द के जोखू, होरी, धनिया किसान
की
दूसरी तस्वीर घूमती है
किसान राय साहब, ठाकुर साहब
और पंडित जी की
एक श्रमिक किसानों की
दूसरी जमींदार किसानों की
एक अन्नदाता है
दूसरा कर्जदाता है
एक धरती फाड़ उगाता है
अन्न जमीन से
अपने खून पसीने से
मगर-
डूबा रहता है वह कर्ज में
जोखू मर-मर कर
पूस की रात बिताता है
खुले आसमान के नीचे
फसल रखाते हुए
फिर भी फसल नहीं बचा पाता।
किसान मजदूर अछूत हैं
गंगी किसान की पत्नी
नहीं दे पाती दो घूंट
साफ पानी अपने पति को
ठाकुर के कुएं से
ठाकुर भी किसान है
गंगी का पति भी किसान है
फिर नफरत क्यों?
यह भाईचारा कैसा?
जाति की दीवार
पहाड़ सी क्यों है?
होरी क्यों नहीं
जी पाता स्वाभिमान से, अभिमान से?
आज के आन्दोलनकर्मी किसान की
तरह?
इतिहास की छोड़ भी दें
निहारें,
आज के किसान आन्दोलन की ओर
एक दलित किसान के हाथ
काट दिए जाते हैं
दूसरे दलित किसान को
जान से मार दिया जाता है
आरोप गुरुग्रंथ साहिब की अवमानना
का आरोप गढ़ दिया जाता है
कोई सुनने समझने वाला नहीं
सब किसान हैं
क्या सब एक जैसे किसान हैं?
आखिर, इन्हें ऐसी क्यों सजाएं
दी जाती हैं किसानों के द्वारा
किसानों को?
लोकतंत्र से ऊपर कोई क्यों और कैसे
है?
एक के लिए गाँव स्वर्ग हैं
दूसरे के लिए नर्क क्यों?
किसान के बच्चे दलित रसोइया का
बना खाना खाने से मना कर देते हैं
आखिर क्या शिक्षा दे रहे हैं
किसान अपने बच्चों को?
मजदूर दलित किसान
परेशान हैं
सवर्ण दबंगयी से
गाँव से पलायन जारी है
रोटी की तलाश में
तो कभी जमींदार के जुल्म
जबरदस्ती से
घर, जमीन छोड़ना
दुखद और पीड़ादायक है
परन्तु-
मजबूर था जोखू भी
आज का किसान भी मजबूर है
मजदूर भी है।
किसान देश के विधाता हैं
भविष्य के निर्माता हैं
इन पंक्तियों पर संदेह से
मेरा माथा
ठनक जाता है।।

–प्रो. रजत रानी 'मीनू'

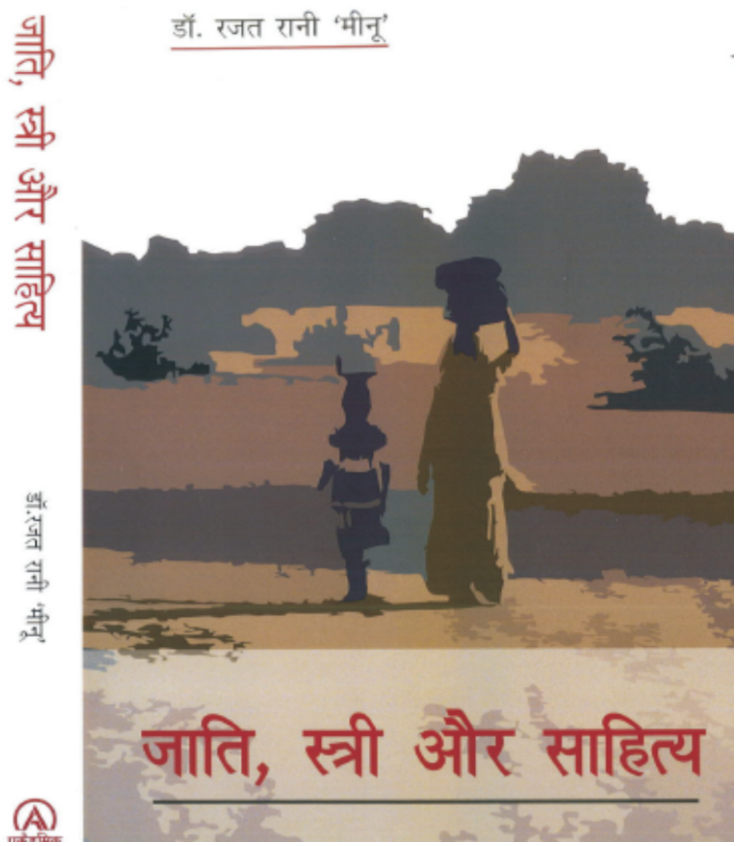

जाति, स्त्री और साहित्य, डा. रजत रानी 'मीनू', एकैडमिक प्रकाशन, बी-578, गली नं. 8, शांति पैलेस के पास, पहला पुस्ता, सोनिया विहार, दिल्ली-110090, प्रथम संस्करण, 2021, पृ. 230,

यह पुस्तक अपने भीतर बहुत कुछ नया समेटे हुए है। इस की दलित साहित्य के समकालीन परिदृश्य में कुछ स्थापनाएं, ध्यान आकर्षित करती हैं। यह पुस्तक दलित स्त्री विमर्श को केन्द्र में लाने का सार्थक प्रयास करती है। इस में, मुख्य रूप से, बदलते हुए समय में दलित स्त्री की स्थिति और उस के जीवन में क्या बदलाव आया है, उन की शैक्षिक, राजनैतिक और धार्मिक स्थिति क्या है, दलित साहित्य में उस का प्रकटीकरण किस स्तर पर हो रहा है, की चर्चा की गयी है। इन सभी प्रश्नों के साथ, हिन्दी दलित कविता की वैचारिकी, उस के सरोकार, लोकतंत्र की पक्षधरता में खड़े मूल्य और सामजिक आन्दोलनों पर विस्तार से चर्चा की गयी है। इस के संकलित लेख दलित साहित्य में नये-नये विमर्शों को जन्म दे कर उस के दायरे को बढ़ाने का प्रयास करते हैं। साथ ही, साहित्य को लोकतांत्रिक दृष्टि से देखने की पैरवी भी करते हैं। अतः यह पुस्तक सामयिक परिवेश में हिन्दी दलित साहित्य में चित्रित दलित स्त्री के संघर्ष उद्घाटित करते हुए उस की विकास प्रक्रिया को विश्लेषित कर नये प्रश्नों को पाठकों के सम्मुख रखने का प्रयास करती है। इस पुस्तक में लेखिका ने दलित स्त्री विमर्श के मुद्दे की गहरी जाँच की है। साथ ही, इस में लेखिका ने हिन्दी दलित साहित्य के सरोकारों, चुनौतियों, विद्रोही स्वरों और विमर्शों के महत्व को रेखांकित किया है। —अनुज

RNI NO. : DELHIN/2008/27588
An International Peer Reviewed Journal
Website : www.bahurinahiawana.in

भाई रे, बिरले दोस्त कबीर के, यह तत बार बार कासो कहिए?
भानन घड़न संवारन सम्रथ, ज्यूं राखै त्यूं रहिए।।
आलम दूनी सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयाना।
छह दरसन छियानबे पाखंड, आकुल किनहूं न जाना।।
जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौराना।
कागद लिख-लिख जगत भुलाना, मनही मन समाना।।
कहै कबीर जोगी अरु जंगम, ई सब झूठी आसा।
रामहि नाम रटो चात्रिग ज्यूं, निहचै भगति निवासा।।[1]

–सद्गुरु कबीर

1. महाबीजक, सम्पादक आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, श्री सदगुरु कबीर मन्दिर, सी. 23/5 कबीरचौरा मठ, वाराणसी–221001, प्रथम संस्करण-1998, पद संख्या-72, पृष्ठ संख्या-414